

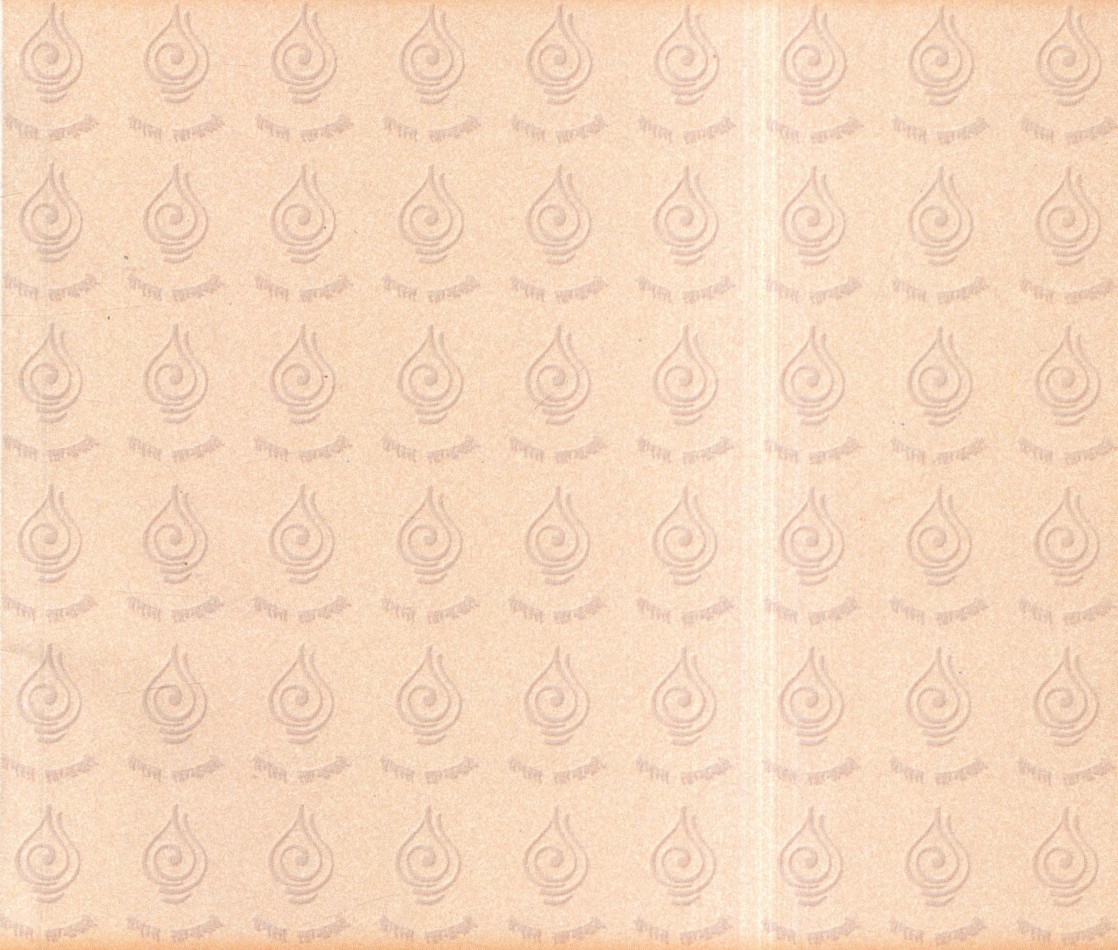
# तुलसी प्रज्ञा

## TULSĪ PRAJÑĀ

वर्ष 26 • अंक 106 • जुलाई-सितम्बर, 1999

Research Quarterly

अनुसंधान त्रैमासिकी



जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूँ

( मान्य विश्वविद्यालय )

JAIN VISHVA BHARATI INSTITUTE, LADNUN  
(DEEMED UNIVERSITY)

ज्ञानम् सतम्भरी

# तुलसी प्रज्ञा

---

# TULSI PRAJÑĀ

---

Research Quarterly of Jain Vishva Bharati, Institute

---

VOL.-106

July to September, 1999

निरय शीलव्य-प्रसूरे

Patron

Prof. B.C. Lodha  
Vice-Chancellor

Executive-Editor & Editor - Hindi Section

Dr. Mumukshu Shanta Jain

Editor - English Section

Dr. Jagat Ram Bhattacharya

Editorial-Board

Dr. Mahavir Raj Gelra, Jaipur  
Prof. Satyaranjan Banerjee, Calcutta  
Dr. R.K. Poddar, Pune  
Dr. Gopal Bhardwaj, Jodhpur  
Prof. Dayanand Bhargava, Ladnun  
Dr. Bachh Raj Dugar, Ladnun  
Dr. Hari Shankar Pandey, Ladnun  
Dr. J.P.N. Mishra, Ladnun



Publisher :

Jain Vishva Bharati Institute, Ladnun-341 306

---

# Research Quarterly of Jain Vishva Bharati, Institute

VOL. 106

July - September, 1999

NO. 02

---

## Editor - Hindi Section

Dr. Mumukshu Shanta Jain

## Editor - English Section

Dr. Jagat Ram Bhattacharya

## Editorial Office

Tulsi Prajna, Jain Vishva Bharti Institute (Deemed University)  
Ladnun-341 306 (Rajasthan)

---

**Publisher** : Jain Vishva Bharti Institute (Deemed University),  
Ladnun (Rajasthan) 341 306

**Type Setting** : Rajendra Offset Printers, Didwana-341 303 (Raj.)

**Printed at** : Jaipur Printers, Jaipur for Agarwal Printers &  
Stationers, Jaipur

---

---

Subscription (Individuals) Annual Rs. 100, Three Year 250, Life Membership Rs. 1500/-  
Sub-Institutions/Libraries) Annual Rs. 200/-

---

The views expressed and facts stated in this journal are those of the writers  
it is not necessary that the Institute agree with them.

## अनुक्रमणिका/Contents

विषय	लेखक	पृष्ठ संख्या
1. सम्पादकीय	डॉ शान्ता जैन	1
2. महावीराष्टकम्	अनुवादक : मुनि राजेन्द्र	9
3. सत्य की खोज	आचार्य महाप्रज्ञ	12
4. जैन-दर्शन और विज्ञान में अमूर्त चिन्तन	मुनि महेन्द्र कुमार	18
5. आचार्य विद्यासागर प्रणीत 'निरंजन शतक'	पंडित विश्वनाथ मिश्र	27
6. प्राकृत भाषा में गणितीय ग्रंथ	डॉ. अनुपम जैन	35
7. जैन धर्म-दर्शन में प्रतिपादित जीव तत्त्व	कुमार अनेकान्त जैन	44
8. आगम साहित्य में दिशा का स्वरूप	समणी कुसुम प्रज्ञा	59
9. भासनाटक में प्राकृत के सम्बन्ध भूत कृदन्त रूप	कमलेश कुमार छःचोकसी	65
10. क्या दृषद्वती नदी ही गंगा थी ?	वेद प्रकाश गर्ग	72
11. सिन्धुराज का अग्रज राजा मुंज	राव गणपतसिंह चीतलवाना	86
12. मानवाधिकार एवं विश्व शान्ति	डॉ. बच्छराज दूगड़	89
13. राजस्थानी लोक-नृत्य घूमर के कलामान	जयचन्द्र शर्मा	94
14. राजस्थान में लौकिक सूक्तियाँ	डॉ. मनोहर शर्मा	97
15. जैन दर्शन में नैतिक मान्यताएँ	सुनन्दा कुमारी	103
16. दीक्षा विमर्श	डॉ. हरिशंकर पाण्डेय	107
17. Glimpses of the Contributions Made by Acharya Mahaprajna	Prof. B. C. Lodha	113
18. Concept of the eight-point centre in Jain cosmology : A Critique	Dr. M. R. Gelra	121
19. Hindu Ethos and Social Service	Prof. Musephir Singh	131
20. Technical Science in Jaina Canons	Dr. N. L. Jain	142
21. संस्थान द्वारा प्रदत्त शोध उपाधियाँ	—	147



## निवेदन

# पार्श्व स्तुति सन्दोह

## तुलसी प्रज्ञा अनुसन्धान पत्रिका का नया विशेषांक

सम्पादन, प्रकाशन, मुद्रण एवं प्रेषण की नई व्यवस्था के साथ त्रैमासिकी अनुसन्धान पत्रिका तुलसी प्रज्ञा लम्बे समय के बाद आपके हाथों में पहुंची है। संस्थान एवं सम्पादक दोनों संकल्पबद्ध हैं कि पत्रिका को ऊँचाई देने में हम सदा जागरूक एवं दायित्वशील बने रहेंगे। हमें प्रसन्नता है कि तुलसी प्रज्ञा में इस बार पाठकों के लिए एक संग्रहणीय, पठनीय एवं मननीय विशेषांक 'पार्श्व स्तुति सन्दोह' भेंट किया है। भगवान पार्श्वनाथ श्रमण परम्परा के तेइसवें तीर्थंकर हैं। उनकी जितनी स्तुतियां, स्तवनाएँ उपलब्ध हैं, अन्य तीर्थंकरों की नहीं। तुलसी प्रज्ञा का यह अंक भगवान पार्श्व की स्तुतियों, स्तवनाओं, स्तोत्रों, दोहों, श्लोकों एवं गीतिकाओं का अनूठा संकलन है। संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी और लोकभाषा में निबद्ध यह 'पार्श्व स्तुति सन्दोह' स्तुति साहित्य की परम्परा का एक पुरुषार्थी प्रयत्न कहा जा सकता है। पार्श्व स्तुतियों का एक साथ इतना बड़ा संकलन-संयोजन अन्यत्र देखने में नहीं आया। इस दृष्टि से तुलसी प्रज्ञा का यह विशिष्ट विशेषांक हर जैन परिवार, संस्थान, मन्दिर एवं पुस्तकालयों के लिए संग्रहणीय है। अतः पत्रिका के सदस्य पाठकों के अतिरिक्त इस पुस्तक को सब तक पहुंचाने की व्यवस्था की गई है। इस अंक को प्राप्त किया और कराया जा सकता है -

- तुलसी प्रज्ञा के स्थायी सदस्य बनकर।
- अपने अर्थ सौजन्य से निर्णीत विद्वानों को भेजने की व्यवस्था कर।
- आपसी सम्पर्क में अंक की सूचना सम्प्रेषण कर।
- पर्वों, त्यौहारों, उत्सवों, जन्म-विवाह तथा अन्य महत्वपूर्ण धार्मिक आयोजनों में भेंट स्वरूप देकर।

'पार्श्वनाथ स्तुति सन्दोह' आप अवश्य स्वयं पढ़ें एवं सबको पढ़ने की प्रेरणा दें। सदस्यता शुल्क वार्षिक -100/-, त्रैवार्षिक -250/-, आजीवन सदस्य - 1500/- एक अंक प्रति मूल्य - 100/-

-सम्पादक

## संस्थान के अनुशास्ता युगप्रधान पद से अलंकृत

जैन धर्म के इतिहास में 'युगप्रधान' आचार्यों की गौरवशाली समृद्ध परम्परा रही है। आगमज्ञाता, शास्त्रज्ञ, प्रखर प्रवचनकार, धर्मप्रचारक, दीर्घपदयात्री अध्यात्म प्रचेता आचार्यों ने अपनी मौलिक साहित्य सर्जना एवं अध्यात्म साधना से धर्म-दर्शन के अनेक गूढ़ रहस्यों की अन्वेषणा की और अपने तेजस्वी, यशस्वी, वर्चस्वी व्यक्तित्व एवं कर्तृत्य से जैन प्रभावना में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसलिए उनके अवदानों ने उन्हें 'युगप्रधान' के रूप में प्रतिष्ठित किया। इस श्रृंखला में अनेक नाम सामने आते हैं :-

- श्रुतसम्पन्न आचार्य भद्रबाहु ने संघ की प्रार्थना पर शिष्यों को वाचना देकर आगम की विच्छिन्न होती परम्परा को सुरक्षित रखा। महाप्राण ध्यान की साधना कर अध्यात्म के आवृत्त तथ्यों का अनावरण किया और नए कीर्तिमान स्थापित किए।
- सूत्रार्थ ज्ञानसम्पदा के धनी वाचना-प्रमुख आचार्य देवर्द्धिगणि ने विलुप्त होती श्रुत परम्परा को लेखनी में उतारा। इससे शब्द और अर्थ की आत्मा जीवित रह सकी।
- प्रभावक आचार्यों में शिरोमणि आचार्य सिद्धसेन ने सूक्ष्म चिन्तन शैली एवं जागृत प्रज्ञा से दर्शन के ग्रन्थों की रचना कर संघ को समृद्ध ही नहीं किया, उसे ऐतिहासिकता भी प्रदान की। न्यायावतार जैसे ग्रन्थ का प्रणयन कर न्यायशास्त्र की बुनियाद रखी।

○ आचार्य समन्तभद्र ने तार्किक क्षेत्र में प्रखर तर्कणाओं से युग को नई देन दी। आसमीमांसा जैसा प्रमाण ग्रन्थ रचकर सुनय-दुर्नय की समीक्षा, स्याद्वाद की परिभाषा का स्थिरीकरण और सप्तभंगी को समझने की दृष्टि दी। आगम ग्रन्थों की संक्षिप्त एवं गूढ़ शैली को समझने के लिए जैनाचार्यों ने प्राकृत व्याख्या साहित्य का भी निर्माण किया। निर्युक्ति रचना के साहित्यकार आचार्य भद्रबाहु, भाष्य साहित्य के रचनाकार आचार्य जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण, चूर्णि साहित्य के रचनाकार आचार्य जिनदास महत्तर का नाम उल्लेखनीय है।

सम्पूर्ण जैन वाङ्मय इस बात का साक्षी है कि जैनाचार्यों ने साधना के साथ धर्मप्रभावना के लिए भी विकास के अनेक आयाम दिए। उस युग की आगम वाचना, धर्मक्रान्ति के सूत्र, प्रचार-प्रसार की शैली, श्रुताराधना के नए घटक और चिन्तन के नए मानक धर्म, दर्शन और श्रुत की दिशा में नई क्रान्ति कही जा सकती है।

जैनाचार्यों ने अपने युग में श्रुताराधना के विलक्षण प्रयोग किए। उन्होंने धर्म, दर्शन, साहित्य, कला, संगीत, इतिहास, गणित, रसायनशास्त्र आयुर्वेद, ज्योतिष, तंत्र-मंत्र, ज्ञान-विज्ञान की हर विधा पर प्रवचन किया और लेखनी चलाई। इसीलिए अपनी सदी का युगप्रधान कहलाने का उन्हें गौरव प्राप्त हुआ।

इस सदी में संघ और समाज ने अनेक प्रभावशाली आचार्यों को युगप्रधान पद से सम्मानित किया है। आचार्य जिनदत्त सूरि, आचार्य जिनचन्द्रसूरि, आचार्य श्री तुलसी जैसे अपरिमेय व्यक्तित्व सम्पन्न जैनाचार्यों के नाम सदा अविस्मरणीय रहेंगे।

युग प्रधान की गौरवशाली परम्परा में आचार्य तुलसी के बाद आचार्य महाप्रज्ञ को 'युगप्रधान' अलंकरण से अलंकृत करना कृतज्ञता के निर्वहन में एक सार्थक प्रयत्न कहा जा सकता है। वे इस बीसवीं सदी के अन्तिम 'युगप्रधान' बने हैं।

आचार्य महाप्रज्ञ जैन श्वेताम्बर तेरापंथ सम्प्रदाय के दशम आचार्य हैं। आचार्य श्री कालू की अनुशासना में मुनि नथमल के रूप में आपका शैशव संन्यस्त हुआ। आचार्य श्री तुलसी के नेतृत्व में श्रुत का शिक्षण, प्रशिक्षण, परीक्षण हुआ। सर्वांगीण विकास का नया क्षितिज खुला। दीक्षित होने के साथ ही एक ओर गुरु तुलसी की कसी हुई अनुशासना, दूसरी ओर गुरु के प्रति श्रद्धा, निष्ठा समर्पण, दृढ़ संकल्प, आत्मविश्वास और बौद्धिक विनयशीलता ने मिलकर महाप्रज्ञ के व्यक्तित्व और कर्तृत्व को अर्हता सम्पन्न बना दिया। वे गुरु के श्रमशील आशीर्वाद एवं स्वयं के पुरुषार्थी प्रयत्न से प्रवक्ता, लेखक, आशुकवि, साहित्यकार, दार्शनिक और भाष्यकार बन गये। मुनि जीवन के इस सफरनामे ने मुनि नथमल का महाप्रज्ञत्व जगा दिया और 'महाप्रज्ञ' शब्द केवल संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण न रहकर सम्पूर्ण जीवन का व्याख्या सूत्र बन गया।

इस विकास यात्रा में मील का पत्थर बना आपका संकल्प जिसने आपको हिमालयी ऊंचाई और सागरीय गहराई दी। आपने संकल्प किया—

- मैं कोई प्रमाद नहीं करूँ।
- मैं किसी का उपालम्भ नहीं सुनूँ।
- मैं कभी किसी के प्रति अनिष्ट चिन्तन नहीं करूँ।
- मैं कभी अध्ययन में किसी से पीछे नहीं रहूँ।

युगप्रधान की भूमिका पर महाप्रज्ञ का नाम स्वयं इस पद को गरिमा प्रदान करता है। युगप्रधान आचार्य तुलसी ने 'महाप्रज्ञ' शब्द की अर्थ-मीमांसा की—“मैं महाप्रज्ञ उसे नहीं कहता जो विद्वान् होता है, जो विद्याओं का पारगामी होता है, जो भाष्यकार होता है, जो मौन करता है, ध्यान करता है, साधना करता है। यह व्याख्या मुझे पसन्द नहीं, क्योंकि कोरा ज्ञान, कोरी साधना व्यक्ति को भटकाती है। मेरी दृष्टि में महाप्रज्ञ उसे कह सकते हैं जिसमें विद्या का पूरा समावेश हो और साधना का समागम हो। शिष्य मुनि नथमल ने ज्ञान और साधना के क्षेत्र में अच्छी प्रगति की है, इसलिए मैंने 'महाप्रज्ञ' नया नामकरण किया है।”

आचार्य पद पर आसीन होते समय आपने कहा—“मेरे जीवन में समर्पण, कृतज्ञता, सहिष्णुता, सन्तुलन मेरा आधार बने। अनुशासित, व्यवस्थित एवं मर्यादित धर्मसंघ का मैं योगक्षेम करूँ।

- मैं शैक्ष को श्रमण बना सकूँ।
- मैं श्रमण को निर्ग्रन्थ बना सकूँ।
- मैं निर्ग्रन्थ को अर्हत् की भूमिका पर आरोहण करता हुआ देख सकूँ।”

सबके योगक्षेम एवं सबके कल्याण की भावना वही कर सकता है जो युगप्रधान की अर्हता से सम्पन्न होता है। कहा भी गया है कि

सो इह संघप्पहाणो जुगप्पहाणेन्ति लहइ संसद्धं।

अप्प-परेसि कल्लाण कारओ गोयमपहुव्वा ॥

आचार्य महाप्रज्ञ तेरापंथ धर्म-संघ के आचार्य हैं पर उनका ज्ञान, चिन्तन, कर्म, संकल्प, साधना सीमाओं से प्रतिबद्ध नहीं है। वे जैनाचार्य हैं, इसलिए अनेकान्तिक भाषा में एकता, समन्वय और सह-अस्तित्व के सिद्धान्तों एवं प्रयोगों को व्यवहार की भूमिका पर देखना चाहते हैं।

वे अनेक विशेषताओं के पुञ्ज हैं पर उनकी अपनी पहली पहचान है सन्तता, जिसमें अहिंसा, सत्य, अभय, अनेकान्त, मैत्री के भाव सिमटे हैं। जो मानवीय एवं आध्यात्मिक मूल्यों के समवाय हैं। उनका कर्तृत्व और व्यक्तित्व गुणविरोधी धर्मों से जुड़ा है—



वे विशाल धर्म संघ के अनुशास्ता हैं पर उनकी अनुशासना में भी मोम मोम पिघलने की तरलता है। वे ग्रन्थों से घिरे निर्ग्रन्थ व्यक्तित्व के धनी हैं। उनमें बौद्धिकता के साथ विनयशीलता है। अध्यात्म योगी होते हुए भी वैज्ञानिकता के पक्षधर हैं। वे भीड़ में भी एकाकी होते हैं। अतीत का भार नहीं ढोते, भविष्य की प्राग् कल्पना नहीं करते। वे वर्तमान क्षणजीवी सन्त हैं। वे लकीर के फकीर नहीं। अपने मौलिक चिन्तन से युगीन सोच के साथ नए क्षितिज खोलते हैं। संकल्पों की प्रतिबद्धता के साथ उनमें सत्यान्वेषी ऋजुधर्मिता है।

आचार्य महाप्रज्ञ को संघ ने 'युगप्रधान अलंकरण' इसलिए नहीं दिया कि वे तेरापंथ सम्प्रदाय के आचार्य हैं। इसलिए भी नहीं कि संघीय महत्त्वाकांक्षाओं को ऊंची छत मिले और इसलिए भी नहीं कि ऐसे अलंकरण नाम, ख्याति और प्रतिष्ठा को फैलाव देने का साधन बनें। 'युगप्रधान' जैसे सम्मान तो ऐसे प्रभावक आचार्यों के साथ जुड़कर स्वयं सम्मानित होते रहे हैं, क्योंकि उपाधियां ऐसे महापुरुषों को खुद ढूंढती हैं।

इस सन्दर्भ में आचार्य महाप्रज्ञ की 'धर्मचक्र का प्रवर्तन' पुस्तक में आचार्य श्री तुलसी के युगप्रधान होने की जो अर्थमीमांसा की है, वह 'युगप्रधान पद' का मानक बन सकती है। आचार्य महाप्रज्ञ ने जो लिखा, उसका सारांश है कि आचार्य तुलसी 'युगप्रधान' इसलिए कहलाए कि —

- उन्होंने सर्वजन हिताय कार्य किया और असाम्प्रदायिक दृष्टि का विकास किया।
- प्राचीन मूल्यों के प्रति आस्थावान होकर भी नए मूल्यों की स्थापना में कृत संकल्प को पूर्णता दी।
- उन्होंने युग को रूढ़िवाद एवं अनास्था से मुक्त किया।
- वर्ग समाप्ति के लिए विसर्जन का सूत्र दिया।
- सम्प्रदाय की सरहदों में कैद धर्म को निर्विशेषण धर्म की ऊंचाई तक पहुंचाया।
- आगम वाचना का दुरूह कार्य अल्प संसाधनों के बीच सम्पादित किया।

आचार्य तुलसी ने अपने जीवन में अनेक रचनात्मक, मौलिक, समसामयिक साहसी निर्णय लिए। आपने अपने हाथों से अपने युवाचार्य महाप्रज्ञ को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया और स्वयं आचार्य पद से मुक्त हो गए। इतिहास का यह एक अनुपम और अद्वितीय दस्तावेज है।

आचार्य महाप्रज्ञ में भी इन्हीं विशेषताओं का छायांकन है। युगप्रधान आचार्य तुलसी के नेतृत्व में आपने अपनी मौलिक चिन्तन प्रवणता का, समयज्ञता का, जागृत प्रज्ञा का परिचय दिया था। आप तेरापंथ धर्मसंघ के अनुशास्ता के रूप में भी धर्म-दर्शन से जुड़े अनेक युगीन सन्दर्भों को नए तथ्यों के साथ प्रस्तुत करते रहे हैं।

आपने आगम सम्पादन का गहन एवं दुरूह कार्य जिस नीति निर्धारण एवं मानदण्डों के आधार पर किया, आज वह आगम वाचना का दिशा सूचक यंत्र बन गया। आगम अनुसंधान के साथ कार्य पद्धति की तीन दृष्टियां जोड़ी—

1. वर्तमान परिस्थितियों के सन्दर्भ में आगमों की उपयोगिता
2. युगानुकूल साहित्यिक सौन्दर्य
3. आकर्षक शैली

इस महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादन की ओर कदम बढ़ाते समय आपने तटस्थता, प्रामाणिकता, समीक्षात्मक टिप्पणियां, तुलनात्मक प्रस्तुतीकरण, समन्वय नीति, इन पांच मानदण्डों को आधार बनाया।

आगम सम्पादन की इस यात्रा में आपने शास्त्रों का दोहन किया, आगमों के गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन किया, सम्पादन की नई पद्धति का निर्धारण कर वैज्ञानिक तथ्यों के साथ प्रयोग और अनुभवों को प्रस्तुति दी। यही कारण है कि युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी के आगम वाचना प्रमुखत्व में आप जैन वाङ्मय का इतना महान् कार्य सम्पादित कर सके।

ज्ञातव्य तथ्य यह भी है कि आगम यात्रा में वे स्वयं अकेले ही नहीं चले, इस दिशा में अनेक प्रबुद्ध साधु-साध्वियों को, समणियों को, तत्त्वज्ञ श्रावकों को सहभागी बनाया। इसीलिए बहुत कम समय में विशाल श्रुत-वैभव का योगक्षेम कर सके।

देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने वीर निर्वाण की सहस्राब्दि के अन्त में आगम की अन्तिम वाचना की थी। सैंकड़ों वर्षों बाद आज फिर हमारे बीच आगम-वाचना प्रमुख के रूप में आचार्य महाप्रज्ञ प्रतिष्ठित हुए हैं, यह इस सदी की उल्लेखनीय उपलब्धि है। जैन शासन की महान् सेवा का यह सार्थक प्रयत्न है। इसीलिए आचार्य महाप्रज्ञ की बहुश्रुतता, सत्यान्वेषी प्रज्ञा, मूलग्राही सूक्ष्मचिन्तन शैली से युगप्रधान पद स्वयं सुशोभित हुआ है।

आचार्य महाप्रज्ञ ने इस युग को अनेक अवदान दिए हैं—

- जैन-योग एवं ध्यान-योग की प्राचीन परम्पराओं को नए सन्दर्भों में प्रस्तुति दी।
- मानवीय मूल्यों पर आधारित जीवन शैली के सूत्रों का निदर्शन कर उपभोक्तावादी संस्कृति की चिन्तन-दिशा को मोड़ा।
- सांस्कृतिक एवं नैतिक मूल्यों से आम आदमी को परिचित करवाने में नए उपक्रम शुरू किए।
- आध्यात्मिक-वैज्ञानिक व्यक्तित्व के निर्माण में अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान एवं जीवन विज्ञान जैसी आध्यात्मिक, नैतिक एवं शैक्षणिक प्रायोगिक पद्धति प्रस्तुत की।

- उन्होंने साहित्य में जीवन की हर विधा समेटी और साधना में सत्यान्वेषी प्रज्ञा से नवोन्मेषी प्रयोग किए।
- उनका चिन्तन पूर्वाग्रहों से मुक्त सापेक्ष-चिन्तन रहा।

मौलिक सर्जना, चिन्तन, लेखन, संयोजन और अनुशासन उनका निजी स्वभाव है। उन्होंने स्वयं के पुरुषार्थ से सफलता की सीढ़ियों पर आरोहण किया है। औरों की बैशाखियों के सहारे सत्य की खोज उन्हें काम्य नहीं। इसीलिए वे मानते हैं, दो हाथ और दस अंगुलियों पर विश्वास करने वाला व्यक्ति किसी की अनुकृति क्यों बने?

आचार्य महाप्रज्ञ के कर्तृत्व की महनीयता इस बात में भी है कि उन्होंने अध्यात्म के साथ वैज्ञानिक दृष्टिकोण जोड़कर धर्म-दर्शन के गूढ़ तथ्यों को सबके लिए सहजगम्य कर दिया। आपने सापेक्षता के साथ युग को समझा और युगीन भाषा में समस्या का समाधान किया। आपने पुराणपंथी बनकर जीवन के विकास का रास्ता तय नहीं किया, श्रद्धा को तर्क की कसौटी पर कसकर चले। इस सन्दर्भ में उनका यह वक्तव्य स्वयं प्रमाणभूत है—

“मैं मुनि हूँ। आचार्य श्री तुलसी का वरदहस्त मुझे प्राप्त है। मेरा मुनि धर्म जड़ क्रिया काण्ड से अनुस्यूत नहीं है। मेरी आस्था उस मुनित्व में है जो बुझी हुई ज्योति न हो। मैं एक परम्परा का अनुगमन करता हूँ किन्तु उसके गतिशील तत्त्वों को स्थितिशील नहीं मानता। मैं शास्त्रों से लाभान्वित हुआ हूँ किन्तु उनका भार ढोने में विश्वास नहीं करता। मुझे जो दृष्टि प्राप्त हुई है, उसमें अतीत और वर्तमान का वियोग नहीं, योग है। मुझे जो चेतना प्राप्त हुई है वह तव-मम के भेद से प्रतिबद्ध नहीं है, मुक्त है। मुझे जो साधना मिली है वह सत्य की पूजा नहीं करती, शल्य-चिकित्सा करती है।

आज का भारतीय मानस बाहर से अर्थ का ऋण ही नहीं ले रहा है, चिन्तन का ऋण भी ले रहा है। मेरी अन्तिम आकांक्षा यही है कि आज के भारत को परोक्षानुभूति की प्रताड़ना से बचाने और प्रत्यक्षानुभूति की ओर ले जाने में अपना योगदान दूँ।”

आचार्य महाप्रज्ञ को दिनांक 19 सितम्बर, 1999 को दिल्ली में जैन तेरापंथ धर्म-संघ ने श्रद्धा और सम्मान के साथ 'युगप्रधान' के अलंकरण से अलंकृत किया और अपने युग में दो युगप्रधान आचार्यों (आचार्य श्री तुलसी एवं आचार्य श्री महाप्रज्ञ) को देखने का अवसर पाकर कृतज्ञता और कृतार्थता का अनुभव किया। आचार्य महाप्रज्ञ को दिये युगप्रधान सम्मान की मूल्यवत्ता युवाचार्य श्री महाश्रमण द्वारा प्रदत्त अभिनन्दन पत्र में देखी जा सकती है।

अभिनन्दन पत्र

णमोत्थुणं समणस्स भगवओ महावीरस्स

युगप्रधान पदाभिषेकः

आचार्य भिक्षु संस्थापित तेरापंथ धर्मसंघस्य दशमाचार्य श्री महाप्रज्ञेन युगप्रवर्त्तकानि लोककल्याणकारिणी अवदानानि प्रदत्तानि-

१. आचार्य तुलसी संप्रवर्तित अणुव्रत आंदोलनस्य दार्शनिकभूमौ प्रतिष्ठापनं संचालनं च ।

२. आध्यात्मिक चेतना प्रबोधकस्य व्याधि-आधि-उपाधि-विमोचकस्य समाधिप्रदायकस्य प्रेक्षाध्यानस्य प्रणयनम् ।

३. व्यक्तित्वस्य सर्वांगीण विकासार्थं स्वस्थ समाज रचनार्थं च शिक्षा क्षेत्रे जीवनविज्ञानस्य प्रस्तुतिः,

४. भारतीय संस्कृतेर्निधानभूतस्य जैनागम वाङ्मयस्य सानुसन्धान सम्पादनं साङ्गोपाङ्गविवेचनं च ।

५. शाश्वत सामयिक समस्या-समाधायकस्य साहित्यस्य विपुलमात्रायां संरचनम् ।

एतद्रूपेण स्वीकयेन कर्तृत्वेन आचार्यवर्यः स्वयुगे प्राधान्यं प्रकृष्टं प्रसिद्धिं च सम्प्राप्तवान् । अनेन गौरवान्वितः विनम्रः चतुर्विधः तेरापंथ धर्म-संघः स्वानुशास्तुः आचार्यश्री महाप्रज्ञस्य युगप्रधान- पदाभिषेकं कुर्वाणः चित्ताहल्लादमनुभवतितराम् ।

जयतु! जयतु!! जयतु!!! चिरं नन्दतु! नन्दतु! नन्दतु!!!

(अध्यात्मसाधना केन्द्रस्य परिपार्श्वभागः २०५६ विक्रमाब्दस्य भाद्रपदशुक्ला मणिदीप परिसरः छत्रपुरम् दिल्ली महानगरम् नवमी रविवासरः विकास महोत्सव दिवसः १९.९.१९९९)

तुलसी प्रज्ञा में युगप्रधान आचार्य महाप्रज्ञ के कर्तृत्व और व्यक्तित्व से जुड़ा यह आलेख हमारे लिए प्रेरणा और गौरव का प्रतीक है, क्योंकि तुलसी प्रज्ञा का प्रकाशन जैन विश्व भारती संस्थान के तत्त्वावधान में होता है और आचार्य महाप्रज्ञ इस संस्थान के अनुशास्ता हैं। जिस संस्थान के अनुशास्ता एक अध्यात्म-प्रधान संस्कृति के संवाहक एवं नैतिक मूल्यों के प्रति जागरूक प्रहरी हों, उस संस्थान के उद्देश्य और आदर्श, दिशा और दशा भी असाधारण होनी चाहिए। आचार्य तुलसी का सपना था कि यह संस्थान प्राचीन विद्याओं एवं आधुनिक



धर्म-दर्शन के तुलनात्मक अध्ययन का शोध-केन्द्र एवं शिक्षा-केन्द्र बने। जैन ही नहीं, हर जाति, धर्म और पन्थ का शोधार्थी यहां शिक्षा प्राप्त कर अपने जीवन को नई दिशा और दृष्टि दे। यहां जैन आगमों का अनुशीलन, सम्पादन एवं पठन पाठन उच्चस्तरीय होता रहे। प्राकृत भाषा, व्याकरण, साहित्य का सर्वांगीण अध्ययन हो। यहां सबको अहिंसा और शांति का प्रायोगिक प्रशिक्षण मिले। जीवन विज्ञान, अणुव्रत एवं प्रेक्षाध्यान की प्रयोगशाला में व्यक्तित्व निर्माण के प्रयोग होते रहें। स्वस्थ समाज की संरचना में यह विश्वविद्यालय रचनात्मक भूमिका निभाये।

युगप्रधान आचार्य तुलसी के इन स्वप्नों को उन्हीं के उत्तराधिकारी युगप्रधान आचार्य महाप्रज्ञ पूरे मनोयोग और दृढ़ संकल्प के साथ पूरा करने का श्रम-साध्य प्रयास कर रहे हैं। क्योंकि ये सपने किसी व्यक्ति, संगठन सम्प्रदाय अथवा समाज के नहीं हैं बल्कि सार्वभौम हैं जिन्हें पूरा करना हम सबका दायित्व है।

आइए, अनुशास्ता महाप्रज्ञ की युगप्रधान के रूप में अभिवन्दना करते हुए हम संकल्पित हों कि हम वही सोचेंगे, वहीं लिखेंगे, वहीं करेंगे जो जैन-धर्म की प्रभावना में सहभागिता दे और स्वयं के व्यक्तिगत विकास में मील का पत्थर बने।

‘तुलसी प्रज्ञा’ का यह अंक नये रूप, आकार, विषय, शैली एवं नये सम्पादक मण्डल के साथ अनुसंधान की अनेक सम्भावनाएं लिए आप तक पहुंच रहा है। प्रस्तुत अंक अनुशास्ता के युगप्रधान पदाभिषेक के प्रति हम सादर समर्पित करते हैं। हम चाहते हैं कि पाठकों एवं लेखकों की सहयोगिता एवं सहभागिता से तुलसी प्रज्ञा का यह पुरुषार्थी सफर विकास की ऊंचाइयां छूता रहे।

✍ डॉ. मुमुक्षु शान्ता

□□□

# महावीराष्टकम्

रचयिता : आचार्य महाप्रज्ञ

अनेकान्तः कान्तः सकलसरितां संगम इव,  
प्रवादे स्याद्वादः सकलवचसामुद्गम इव ।  
न सत्यं सत्यांशैर्वियुतमिह दृष्टं बुधजनेः,  
महावीरो धीरः स्फुरतु मम चित्ते प्रतिपलम् ॥ १ ॥

भगवान् ने सत्य की उपलब्धि के लिए अभिलषणीय 'अनेकान्त' का दर्शन दिया, जो समस्त विचारों की सरिताओं के संगमस्थल की तरह है। अनेकान्त की अभिव्यक्ति के लिए स्याद्वाद की शैली प्रस्तुत की, जो समस्त वचनों के उद्गम की भांति है। उस ज्ञानी पुरुष ने देखा-जाना कि सत्य सत्यांशों से विकल नहीं होता। वह धीर महावीर प्रतिपल मेरे चित्त में स्फुरित होता रहे।

न रागो नो द्वेषः प्रशमरसपीयूषललितम्,  
शरीरं संवृत्तं गरलममृतं विस्मयकथा ।  
न दृष्टिर्नो दंशः प्रखरफणिनश्चाऽपि सफलः,  
महावीरो धीरः स्फुरतु मम चित्ते प्रतिपलम् ॥ २ ॥

भगवान् में न राग था, न द्वेष। शरीर प्रशमरस रूपी अमृत से ललित था। इसलिए गरल भी अमृत में परिणत हो गया, यह, विस्मयजनक कथा है। तीव्र विषधर चंडकौशिक ने जहर उगलती हुई दृष्टि से भगवान् को देखा और काटा, फिर भी वह सफल नहीं हुआ—शरीर को हानि नहीं पहुंचा सका। वह धीर महावीर प्रतिपल मेरे चित्त में स्फुरित होता रहे।

इदं शस्त्रं भीतिं जनयति जनानामधिमनः,  
 इदं सैन्यं दैन्यं जनयति समाजे प्रतिपदम् ।  
 विदेहे देहस्य स्थितिरभयमाप्नोति सहजं,  
 महावीरो धीरः स्फुरतु मम चित्ते प्रतिपलम् ॥ ३ ॥

[नन्दिवर्धन ने भगवान् के सामने प्रस्ताव रखा—आपकी सुरक्षा के लिए मैं अपनी शस्त्रधारी सेना को आपके साथ रखना चाहता हूँ] तब भगवान् ने कहा—ये शस्त्र मनुष्यों के मन में भय उत्पन्न करते हैं। यह सेना समाज में पग-पग पर दीनता पैदा करती है। विदेह में देह की स्थिति सहज ही अभय को प्राप्त हो जाती है। वह धीर महावीर प्रतिपल मेरे चित्त में स्फुरित होता रहे।

सुरक्षां नो नीता किमु तृणकुटीं भो मुनिवर!,  
 निजं नीडं पक्षी तनु तनुरहो रक्षतितमाम् ।  
 तदा ध्यातं स्वात्मा प्रभवति कुटीरं न च परं,  
 महावीरो धीरः स्फुरतु मम चित्ते प्रतिपलम् ॥ ४ ॥

[अभिनिष्क्रमण के पश्चात् भगवान् महावीर एक आश्रम में, कुलपति की आज्ञा से एक तृणकुटीर में रहे। निरन्तर ध्यानस्थित रहने के कारण उन्होंने कुटीर की ओर ध्यान नहीं दिया। कुटीर की घास गाएं चर गईं] तब कुलपति ने महावीर से कहा—मुनि प्रवर! आपने अपनी तृणकुटीर की सुरक्षा क्यों नहीं की? आश्चर्य है कि छोटे से छोटा पक्षी भी अपने नीड की रक्षा करता है। तब भगवान् ने सोचा—अपनी आत्मा ही अपनी कुटीर हो सकता है, दूसरा नहीं। वह धीर महावीर प्रतिपल मेरे चित्त में स्फुरित होता रहे।

निमेषार्द्धो नूनं ज्ञापयति न चात्मा बहिरिह,  
 तथैवार्द्धोन्मेषो ज्ञापयति च तत्त्वं बहिरपि ।  
 विचित्रा मुद्रेयं वरनयनयोर्ध्याननिरता,  
 महावीरो धीरः स्फुरतु मम चित्ते प्रतिपलम् ॥ ५ ॥

तुम्हारे अर्ध निमीलित चक्षु ज्ञापित कर रहे हैं कि आत्मा इस शरीर से बाहर नहीं है। उसी प्रकार प्रकट कर रहे हैं तुम्हारे अर्धोन्मीलित चक्षु कि तत्त्व बाहर भी है। ध्यान में लीन तुम्हारी प्रवर आंखों की मुद्रा विचित्र है। वह धीर महावीर प्रतिपल मेरे चित्त में स्फुरित होता रहे।

अगम्यः सः श्वासः परिमलमुपेतोब्जसुलभं,  
 अगम्या सा वाणी प्रसरति सुदूरं सहजतः।  
 अगम्यो गम्यस्त्वं कथमिति न जाने यतिपते !  
 महावीरो धीरः स्फुरतु मम चित्ते प्रतिपलम् ॥ ६ ॥

अगम्य है वह श्वास, जो अब्ज सुलभ परिमल युक्त हो। अगम्य है वह वाणी जो बिना किसी माध्यम के सहज सुदूर फैल जाती हो। हे यतिपते! तुम अगम्य हो। मैं नहीं जानता फिर तुम गम्य कैसे हो गए? वह धीर महावीर प्रतिपल मेरे चित्त में स्फुरित होता रहे।

न कालस्यैकान्तो न खलु नियतेर्मुख्यपदवी,  
 स्वकीयं कर्तृत्वं प्रबलपुरुषार्थेन फलितम्।  
 व्रतानां सन्देशः श्रुतिमधिगतः मंत्रमभवत्,  
 महावीरो धीरः स्फुरतु मम चित्ते प्रतिपलम् ॥ ७ ॥

[कालवादी दार्शनिक एकान्ततः काल को और नियतिवादी दार्शनिक एकान्ततः नियति को ही प्रधान मानते थे।] तुम्हारे सिद्धान्त में न एकान्ततः काल को और न एकान्ततः नियति को मुख्य स्थान प्राप्त है। स्वयं का कर्तृत्व प्रबल पुरुषार्थ से फलता है। तुम्हारे व्रतों का सन्देश कर्ण का विषय होकर मन्त्र बन गया। वह धीर महावीर प्रतिपल मेरे चित्त में स्फुरित होता रहे।

अनन्तानन्देन क्वचिदपि न कष्टानुभवनं,  
 अनन्तं तज्ज्ञानं विदितमभितो विश्वमखिलम्।  
 अनन्ता सा शक्तिः क्वचिदपि न किञ्चित् प्रतिहता,  
 महावीरो धीरः स्फुरतु मम चित्ते प्रतिपलम् ॥ ८ ॥

अनन्त था वह आनन्द जिससे कहीं भी तुम्हें कष्ट का अनुभव नहीं हुआ। अनन्त था वह ज्ञान जिससे तुमने चारों दृष्टियों (द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव) से सकल विश्व को जाना। अनन्त थी वह शक्ति, जो कहीं, किञ्चित् भी प्रतिहत नहीं हुई। वह धीर महावीर प्रतिपल मेरे चित्त में स्फुरित होता रहे।

अनुवादक : मुनि राजेन्द्रकुमार





## प्रवचन

# सत्य की खोज

📖 आचार्य महाप्रज्ञ

मैंने आगमों को पढ़ा और आगमों के अध्ययन के साथ एक दृष्टिकोण का निर्माण हुआ कि सम्यक् दर्शन, सम्यक-दृष्टि दर्शन का मूल आधार है। अनेक दर्शन हैं, अनेक दार्शनिकों के द्वारा ये प्रस्थापित हैं। बात है कसौटी की। मैंने जिस कसौटी को अपनाया वह यह है कि जिसका कषाय शान्त होता है, क्रोध, मान, माया, लोभ और उसके उपजीवी कषाय शान्त होते हैं उस व्यक्ति को सम्यक् दर्शन प्राप्त होता है। सम्यक् दृष्टि प्राप्त होती है। वह देखता है किन्तु अपनी आंखों से नहीं देखता, अपने अन्तश्चक्षु से देखता है। अन्तःचक्षु से जो देखता है वह यथार्थ होता है। हमारे सामने अनेक दर्शन हैं। अनेक लोगों ने देखा है। हम अपनी दृष्टि का निर्माण न करें तब तक दर्शन की भूमिका पर जाने का अधिकार नहीं मिलता। ऐसा मान लिया गया कि हमारे पूर्वजों ने जो देखा वहीं दर्शन की इति हो गई। उससे आगे अवकाश नहीं। अधिकांश दार्शनिक पूर्वजों के लिखे हुए ग्रन्थों का अनुवाद या अभिनव संस्करण करने में अथवा उनकी व्याख्या करने में ही प्रवृत्त होते दिखाई दिये।

मैंने एक बात पढ़ी कि द्रव्य के पर्याय अनन्त होते हैं। वे सब कहे नहीं जा सकते, जाने जा सकते हैं अतिशय ज्ञानी के द्वारा। पर्यव अनन्त हैं, उनका प्रतिपादन कोई नहीं कर सकता। केवली सर्वज्ञ भी नहीं कर सकता। उसका हेतु बहुत स्पष्ट है कि पर्याय अनन्त और जीवन की सीमा बहुत छोटी। वाणी की सीमित शक्ति और

जीवन की अल्प अवधि में अनन्त का प्रतिपादन कोई कर नहीं सकता। चाहे सर्वज्ञ है, केवली है, उसने प्रतिपादन किया है तो कुछ धर्मों का ही किया है, वस्तु के कुछ अंशों का किया है, संख्यात का किया है, असंख्यात का भी नहीं। अनन्त की बात तो और दूर रह जाती है। इसका अर्थ है कि सत्य की खोज का द्वार खुला है। अगर सब कुछ कह दिया जाता तो फिर नया करने के लिए हमारे पास कुछ नहीं रहता। केवल पुनः उच्चारण होता। किन्तु सब कहा हुआ नहीं है। जो कथित है, उक्त है उसकी अपेक्षा अनुक्त बहुत ज्यादा है। इसलिए अनुक्त का उच्चारण, अज्ञात को ज्ञात करने की हमारी प्रवृत्ति बनती है और एक दृष्टिकोण का निर्माण होता है। उस दृष्टिकोण का एक समर्थन मिलता है उत्तराध्ययन सूत्र से। कहा गया —“अप्पणा सच्चमेसेज्जा” स्वयं सत्य की खोज करो। अगर सब कुछ ज्ञात होता तो सत्य की खोज का उपदेश देने की आवश्यकता नहीं होती। सब कुछ ज्ञात नहीं है, सब कुछ उक्त भी नहीं है, इसलिए सत्य की खोज का द्वार हमारे सामने है। सत्य की खोज करने के लिए एक सम्यग् दृष्टि के निर्माण की जरूरत है।

सम्यक् दृष्टि सहज भी प्राप्त होती है और प्रयत्न के द्वारा, अभ्यास के द्वारा भी। बहुत सारे ऋषि हुए हैं, आर्हत हुए हैं जिन्होंने शास्त्रों का अध्ययन नहीं किया किन्तु उन्होंने बहुत बड़े-बड़े सत्यों का प्रतिपादन किया। हम नहीं कह सकते कि एक अनपढ़ आदमी इतनी बड़ी सच्चाई का प्रतिपादन कैसे कर सकता है? यह प्रश्न हो सकता है पर इसका समाधान भी बहुत सुन्दर किया गया। दस रुचियां बतलाई गई हैं। उनमें पहली रुचि है— निसर्ग रुचि। एक व्यक्ति बिल्कुल शास्त्र पढ़ता नहीं, सुनता नहीं, कुछ भी नहीं करता किन्तु उसकी कषाय शान्त, उपशांत हैं, कषाय की अग्नि प्रज्वलित नहीं है वह सहज ही सच्चाई को पकड़ लेता है। हमारी दर्शन की परम्परा में अनेक ऐसे ऋषि हुए हैं। चाहे वे उपनिषद् के ऋषि हों, चाहे वे इसिभासियं में आने वाले ऋषि हों, चाहे अन्य किसी परम्परा के ऋषि हों। ऋषि वह होता है, जो द्रष्टा होता है। द्रष्टा ऋषियों ने काफी सत्यों का, सत्यांशों का प्रतिपादन किया है।

एक व्यापक दृष्टि का निर्माण करने के लिए हमारे सामने आधारभूमि बन गई। हमारी दृष्टि संकुचित हो सकती है यदि हम एक सम्प्रदाय की सीमा में ही सोचें। अमुक सम्प्रदाय में जो कहता है, देखता है वही दर्शन है, तो दृष्टिकोण संकुचित बन जायेगा। जब सम्प्रदाय से परे हम केवल आत्मा की भूमिका में चले जाते हैं तब दृष्टिकोण व्यापक बनता है। जिनकी आत्मा पवित्र हो गई, कषाय उपशांत हो गये, चेतना निर्मल हो गई, वे जो देखते हैं। उनका दर्शन हमारी दृष्टि के लिए मजबूत आधार बनता है। ये निसर्ग रुचि व्यापक दृष्टिकोण का आधार बनी है और मैंने इसको सचमुच आधार बनाया है। यह किसी सम्प्रदाय की सीमा में नहीं है। यह रुचि अमुक-अमुक सम्प्रदाय में होगी, न्याय दर्शन में होगी, वैशेषिक दर्शन

में होगी या जैन दर्शन में होगी, ऐसा कोई नियम नहीं है। यह किसी भी देश, काल, सम्प्रदाय में हो सकती है। जिस व्यक्ति की आत्मा एक सीमा तक पवित्र बन चुकी है और जिसे उपशांत कषाय के कारण सम्यक् दर्शन प्राप्त हो चुका है, वह द्रष्टा है। अन्तिम सच्चाई यही है कि सम्यक् दर्शन के बिना दर्शन की बात कही नहीं जा सकती।

इसका कारण भी बहुत साफ है, जब राग और द्वेष प्रबल होते हैं, तब उस अवस्था में सत्य का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। यदि सत्य का प्रतिपादन नहीं है तो वास्तविकता अथवा पारमार्थिक तत्व का प्रतिपादन नहीं है। उसे दर्शन की कोटि में रखने का प्रयत्न करें तो अनधिकार चेष्टा होगी। क्योंकि उसमें राग के कारण पक्षपात होगा या द्वेष के कारण सत्य का तिरस्कार होगा। इन दोनों से परे जब हम होते हैं तो हमारी दृष्टि अरक्त और अद्विष्ट होती है। जो दृष्टि न द्विष्ट है, न राग से रंजित है और न प्रत्यनीकता से दूषित है वह दृष्टि हमारा सम्यक् दर्शन है। उस अवस्था में यानी वीतराग अवस्था में जो सत्य का प्रतिपादन होता है वह दर्शन होता है।

वर्तमान में दर्शन का क्षेत्र बहुत व्यापक बन गया। प्राचीन जगत में पदार्थ ज्ञान, पदार्थ विद्या दर्शन की सीमा थी। मध्यकाल में प्रमाण शास्त्र भी दर्शन की कोटि में आ गया। दर्शन के दो मुख्य अंग हैं—पदार्थ शास्त्र और प्रमाण शास्त्र। न्याय दर्शन प्रमाण शास्त्र है। वैशेषिक दर्शन पदार्थ शास्त्र है। दोनों में एक अन्तर है। यद्यपि हम न्याय को भी दर्शन कहते हैं, वैशेषिक को भी दर्शन कहते हैं, किन्तु प्राचीन भाषा में जायें तो वैशेषिक दर्शन है और न्याय शास्त्र है। दर्शन को परखने की कसौटी प्रमाण विद्या है, प्रमाण शास्त्र है अथवा तर्क शास्त्र है। जिस समय ऋषि थे, द्रष्टा थे उस समय तर्क या प्रमाण की कोई आवश्यकता नहीं थी। वे जो कहते वही प्रमाण था। साक्षात्कार करने वाले अतिशयज्ञानी अतीन्द्रिय नहीं रहे तब तर्क शास्त्र का विकास हुआ। जब ऋषि जाने लगे तो कहा, आप जा रहे हैं, पीछे हमारा क्या होगा? तो ऋषियों ने कहा कि चिन्ता मत करो, आपके लिए हम पीछे तर्क को छोड़ जाते हैं। वे तर्क को हमारे लिए छोड़ गये।

वर्तमान में तर्कप्रधान दर्शन बन गया। उससे हम शायद सत्य से दूर जा रहे हैं। तर्क का काम सत्य तक पहुंचाना नहीं है। यदि तर्क का काम सत्य तक पहुंचाना होता तो फिर न्याय शास्त्र में जाति और छल की परिकल्पना भी नहीं होती। तर्क का मुख्य काम जय-पराजय तक सीमित रहता है कि कौन हारता है, कौन जीतता है? जिसका तर्क प्रबल है वह जीतता है और जिसका तर्क कमजोर है वह हार जाता है। जहां जय-पराजय का प्रसंग आया, दार्शनिकों में शास्त्रार्थ चले। शास्त्रार्थ चले तो उस समय वहां तर्क शास्त्र, प्रमाण शास्त्र की बहुत उपयोगिता बढ़ गयी। किस प्रकार नवकंबल कहकर दूसरे को परास्त किया जा सकता

है, यह तर्क शास्त्र में देखा जा सकता है। नवकंबल के अर्थ दोनों होते हैं। किसी ने कहा, यह नौ कम्बल है। किसी ने कहा, यह तो नया कम्बल है। ये जो छल, जाति दर्शन शास्त्र में, प्रमाण शास्त्र में प्रविष्ट हुई, इससे बहुत स्पष्ट होता है कि हमारी दृष्टि सम्प्रदाय बढ़ाने की, हार-जीत करने की बन गई। सत्य की खोज करने की बात चली गई।

जैन दर्शन वीतराग दर्शन की सीमा में रहा, इसलिए छल और जाति को स्थान नहीं दिया, जय-पराजय को भी मुख्य नहीं माना। यद्यपि मैं यह तो नहीं कह सकता कि मध्यकाल में सर्वथा हमारे पूर्वज आचार्य भी इस बात से अलिप्त रहें हैं। फिर भी काफी बचाव हुआ है। हमारी दृष्टि सत्य को खोजने की दृष्टि बने। मुझे सत्य की खोज करनी है। यह संकल्प सत्य की खोज में जो उपलब्ध होता है वही वास्तव में दर्शन बनता है। इसका तात्पर्य है कि दार्शनिक और साधक दोनों एक होते हैं। जो अध्यात्म का साधक है वह दार्शनिक होगा और जो दार्शनिक होगा वह अध्यात्म का साधक होगा। अगर अध्यात्म का साधक नहीं है तो वह दार्शनिक नहीं होगा। छल, जाति, प्रपंच में ही पड़ने वाला होगा। इसलिए दार्शनिक संत शब्द का जो प्रयोग किया जाता है, वह मुझे बहुत अच्छा लगता है। जो दार्शनिक भी है और सन्त भी है, वह दार्शनिक सन्त होता है।

सम्यक् दर्शन के द्वारा उपलब्ध सत्य को ही आगे बढ़ाया जा सकता है। सम्यग् दर्शन के द्वारा जो उपलब्ध होता है उससे साक्षात् करने की एक प्रवृत्ति बनती है। तर्क से साक्षात्कार नहीं होता, परोक्ष ज्ञान ही होता है, प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता। साक्षात्कार किया तो एक नवनीत या रहस्य हमारे सामने आया। स्थानांग सूत्र में एक सूत्र मिलता है, 'जमत्थि लोए तदत्थि द्विपयावयारे' इस श्लोक में जो कुछ है वह द्विपदावतार है। दो पदों में अवतरित होता है—जीवा चैव-अजीवा चैव, सासया चैव-असासया चैव, लोए चैव-अलोए चैव, रुवि चैव-अरुवि चैव यह बहुत लम्बा प्रकरण है। हम यहां चार शब्दों को ही लें। जीव है और अजीव है, यह एक साक्षात् किया हुआ सत्य का प्रतिपादन या विश्व का निरूपण है। रूपी है और अरूपी है। अमूर्त का सिद्धान्त एक बहुत महत्वपूर्ण सिद्धान्त है और जैन दर्शन का एक प्रमुख सिद्धान्त है। शाश्वत है और अशाश्वत है, लोक है और अलोक है। ये चार शब्द बड़े महत्वपूर्ण हैं। इसके अनुसार सब जीव हैं। इस विषय में दो शब्दों में दो शब्दों का स्वीकार हुआ यानी कि द्वैत का स्वीकार। जैन दर्शन द्वैतवादी है। अद्वैतवादी दर्शनों में जो चैतन्य द्वैत है, वे मानते हैं सब कुछ चैतन्य से ही पैदा हुआ है। जड़ द्वैतवाद के अनुसार सब कुछ जड़ से पैदा हुआ है। चेतन से उत्पन्न अचेतन की सृष्टि और एक अचेतन से उत्पन्न चेतन की सृष्टि, ये दोनों अद्वैत रहे। इस स्थिति में एक तीसरा विकल्प द्वैतवाद का है कि जीव है, अजीव है और दोनों की स्वतन्त्र सत्ता है। कोई किसी से उत्पन्न नहीं है। जैन दर्शन में



दस नियम बतलाये गये हैं—उनमें एक नियम है कि जीव कभी अजीव नहीं होगा और अजीव कभी जीव नहीं होगा। दोनों की स्वतन्त्र सत्ता है। न दोनों एक दूसरे से उत्पन्न होने वाले हैं और न ही विलय होने वाले हैं, यह द्वैत का स्वीकार है। जीव है, अजीव है, दोनों की स्वतन्त्र सत्ता है।

इस द्वैतवादी दृष्टिकोण से यह प्रश्न भी उभरा कि जीव अजीव दोनों की स्वतन्त्र सत्ता है, यह सिद्धान्त ठीक है किन्तु हमारा शरीर जड़ है, अचेतन है, इसमें आत्मा है तो दोनों की स्वतन्त्र सत्ता कहां है? दोनों परस्पर घुले-मिले हुए हैं, एक ही साथ हैं, तादात्म्य हैं। लोलीभाव यानी एकात्मकता है तो फिर दोनों का अस्तित्व स्वतन्त्र कैसे? यह जड़ और चेतन के सम्बन्ध का प्रश्न भारतीय दर्शनों में चर्चित रहा किन्तु पश्चिमी दर्शनों में ज्यादा चर्चित रहा है। दोनों में सम्बन्ध कैसे? जैन दर्शन ने इसे समझाने का प्रयत्न किया कि ये सम्बन्ध कृत नहीं, स्वाभाविक है। जीव में पुद्गल को अपनाने की क्षमता है और उस क्षमता का नाम है स्नेह। जीव में एक प्रकार की स्नेह क्रिया होती है और वह स्नेह पुद्गल को अपना सकता है और पुद्गल में भी वह स्नेह होता है जो जीव को अपना सकता है। दोनों में सम्बन्ध स्थापित हो सकता है, जीव का अजीव के साथ सम्बन्ध है, पर एक नहीं है। दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व है। साथ रहते हैं फिर भी दोनों एक नहीं है। परस्पर सटे हुए हैं, धूप और छांव की भांति, पर एक नहीं हैं। परस्पर एकात्मकता नहीं है। दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व कभी भी लुप्त नहीं होता। पुद्गल अजीव जीव पर अपना प्रभाव डालता है और प्रभाव भी इतना डालता है कि जीव को अजीव के समान कर देता है। फिर भी जीवत्व को बिल्कुल विलीन नहीं कर सकता। नंदी सूत्र में बहुत सुन्दर समझाया गया कि बादल कितना ही गहरा क्यों न हो पर दिन और रात का भेद बराबर बना रहेगा। वैसे ही पुद्गल, अजीव तत्त्व जीव को आवृत्त कर देता है और अचेतनवत बना देता है फिर भी उसको अचेतन नहीं बना सकता, उसकी सत्ता बराबर विद्यमान रहती है। इतना होने पर भी उसका अस्तित्व कभी विलीन नहीं होता है। यह उसकी स्वतन्त्रता का परिचायक है। उसमें एक विशेष प्रकार का गुण होता है। जिसकी चर्चा शायद दर्शन शास्त्र में कहीं नहीं मिलेगी, वह है अगुरुलघु नाम की सत्ता। अगुरुलघु नाम का एक विशेष गुण होता है। उसका काम ही है अस्तित्व को बनाये रखना। वह निरन्तर सजग पहरा देता है। वह द्रव्य को विचलित नहीं होने देता, निरन्तर उसको अपने रूप में ही परिणत करता रहता है। यदि यह गुण नहीं होता तो द्रव्य से द्रव्य का विचलन, पर्यार्य का विचलन हो जाता। एक बहुत बड़ी खोज सम्यग् दर्शन के द्वारा हुई और वह है अगुरुलघु गुण और अगुरुलघु पर्यार्य। अगुरुलघु गुण जो हमारे अस्तित्व का मूल आधार है। अस्तित्व को बनाये रखता है। बाहर के आधार पर देखें तो अस्तित्व को विलीन करने वाले

बाधक तत्व बहुत हैं किन्तु यह भीतर की एक शक्ति है। उस शक्ति के बारे में बहुत कम लोग जानते हैं। वह शक्ति है अगुरुलघु गुण जिससे हमारे अस्तित्व को कोई खतरा नहीं है।

इस समग्र दृष्टिकोण का निर्माण आगमिक तथ्यों के द्वारा हुआ, जो पदार्थ शास्त्र की व्याख्या करने में बहुत ही सक्षम है और जिसके आधार पर दर्शन का विकास होता है। हमारी दृष्टि का वह आधार बने, क्योंकि वही आधार हमें सत्य तक ले जाने में सक्षम होगा।

उपसंहार में यही कहा जा सकेगा कि सम्यक् दर्शन की उपलब्धि दर्शन शास्त्र की उपलब्धि है। सम्यक् दर्शन का विकास दर्शन का विकास है और सम्यक् दर्शन का विस्तार दर्शन का विस्तार है। सम्यक् दर्शन को छोड़कर हम दर्शन की बात नहीं कर सकते। प्रमाण शास्त्र की बात करते हैं किन्तु पदार्थ शास्त्र या जो वास्तविकता है उस वास्तविकता तक पहुंचने का जो साधन है वह सम्यक् दर्शन से बिल्कुल जुड़ा हुआ है। इस सचाई का अनुशीलन आवश्यक है।



## धर्म और विज्ञान

# जैन-दर्शन और विज्ञान में अमूर्त अचेतन

✍ मुनि महेन्द्रकुमार

### 1. जैन दर्शन का दृष्टिकोण

जैन दर्शन में विश्व के लिए 'लोक' शब्द प्रयुक्त हुआ है। 'लोक' का व्युत्पत्तिजनक अर्थ है—जो देखा जाता है, वह लोक है। यह 'लोक' की केवल स्थूल परिभाषा है। 'लोक' की व्याख्यात्मक परिभाषा करते हुए कहा गया है—'जिसमें छः प्रकार के द्रव्य हैं, वह लोक है। इन छः द्रव्यों के नाम इस प्रकार हैं—

1. धर्मास्तिकाय : गति-सहायक द्रव्य
2. अधर्मास्तिकाय : स्थिति-सहायक द्रव्य
3. आकाशास्तिकाय : आश्रय देने वाला द्रव्य
4. काल : समय
5. पुद्गलास्तिकाय : मूर्त जड़ पदार्थ (Matter)
6. जीवास्तिकाय : चैतन्यशील आत्मा (Soul)

इन छः द्रव्यों की सह-अवस्थिति 'लोक' है। इस प्रकार की द्रव्यमीमांसा जैन-दर्शन की अपनी विशेषता है। इन छः द्रव्यों में से काल को छोड़कर शेष पांच द्रव्य अस्तिकाय कहे गये हैं। 'अस्तिकाय' का तात्पर्य है कि ये द्रव्य सप्रदेशी—सावयवी

हैं। 'काल' द्रव्य के प्रदेश नहीं होते; अतः उसे अस्तिकाय नहीं कहा गया है। इस कारण से कहीं-कहीं लोक की चर्चा करते हुए लोक को 'पंचास्तिकाय रूप' बताया गया है। संक्षेप में जिसको हम 'विश्व' (यूनिवर्स) की संज्ञा देते हैं, वह 'लोक' है।

### आकाश : लोक और अलोक

ऊपर बताये गये छः द्रव्यों में तीसरा द्रव्य आकाशास्तिकाय आकाश (स्पेस) का सूचक है। आकाशास्तिकाय को संक्षेप में आकाश भी कहा जा सकता है। इसकी परिभाषा करते हुए कहा गया है कि 'वह द्रव्य, जो अन्य सभी द्रव्यों को अवगाह अथवा आश्रय देता है, उसको 'आकाश' कहते हैं।

आकाश वास्तविक द्रव्य है। द्रव्य की दृष्टि से आकाश एक और अखण्ड द्रव्य है अर्थात् उसकी रचना में सातत्य है। क्षेत्र की दृष्टि से आकाश अनन्त और असीम माना गया है। वह सर्वव्यापी है और इनके प्रदेशों की संख्या अनन्त हैं। काल की दृष्टि से आकाश अनादि और अनन्त है अर्थात् शाश्वत है। स्वरूप की दृष्टि से आकाश अमूर्त है—वर्ण, गंध, रस, स्पर्श से रहित है अर्थात् अभौतिक है—भौतिक अथवा जड़ (मैटर) द्रव्य से भिन्न है; चैतन्य रहित होने से अजीव है; गति रहित होने से अगतिशील है।

समस्त आकाश-द्रव्य के द्वारा अवगाहित नहीं है; अतः एक होने पर भी, अन्य द्रव्यों के अस्तित्व के कारण दो भागों में विभाजित हो जाता है:

- (1) लोकाकाश (2) अलोकाकाश

आकाश का वह भाग, जो धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय—इन चारों अस्तिकायों द्वारा अवगाहित है, वह लोकाकाश है। शेष भाग, जहां आकाश के अतिरिक्त और कोई द्रव्य नहीं होता, वह अलोकाकाश है। लोकाकाश के प्रदेशों की संख्या असंख्यात है। अलोकाकाश के प्रदेशों की संख्या अनन्त है। लोकाकाश एक, अखण्ड, सान्त और ससीम है। उसकी सीमा से परे अलोकाकाश एक और अखण्ड है तथा असीम-अनन्त तक फैला हुआ है। ससीम लोक चारों ओर से अनन्त अलोक से घिरा हुआ है।

अलोक एक विशाल गोले के समान है, जिसकी त्रिज्या अनन्त है। इस कथन से यही अर्थ निकलता है कि धर्म, अधर्म आदि पांच द्रव्यों को धारण करने वाला वह विश्व (लोकाकाश) अनन्त आकाश-समुद्र में एक द्वीप के समान है। यहां पर यह बात ध्यान में रखनी आवश्यक है कि आकाश लोक और अलोक-अखण्ड द्रव्य है। अन्य द्रव्यों के अस्तित्व के कारण ही हम आकाश के दो विभाग करते हैं। अलोकाकाश का अस्तित्व तर्क

के आधार पर निम्न प्रकार से किया जा सकता है—लोकाकाश अथवा सक्रिय विश्व के अस्तित्व के विषय में कोई संदेह नहीं करता, क्योंकि वह इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्षतया जाना जाता है, सबके द्वारा ग्राह्य है। किन्तु यदि लोकाकाश का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है, तो अलोकाकाश का अस्तित्व स्वतः प्रमाणित हो जाता है, क्योंकि तर्कशास्त्र के अनुसार जिसका वाचक पद व्युत्पत्तिमान और शुद्ध होता है, वह पदार्थ सत् प्रतिपक्ष होता है। उदाहरणार्थ—जैसे अघट घट का प्रतिपक्ष है। 'घट' शब्द विधि-वाचक है; 'अघट' निषेधवाचक है। इसी तरह अलोकाकाश लोकाकाश का निषेध-वाचक है—विपक्ष है, अतः अलोकाकाश का अस्तित्व लोकाकाश के साथ स्वीकृत हो जाता है।

### धन और ऋण ईथर

छः द्रव्यों में से प्रथम दो द्रव्य धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय को हम क्रमशः धन ईथर (पाजिटिव ईथर) और ऋण ईथर (नेगेटिव ईथर) कह सकते हैं। ये दोनों तत्त्व—धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय जैन-दर्शन द्वारा प्रतिपादित विश्व-सिद्धान्त में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। धर्मास्तिकाय वह तत्त्व है, जो लोक में सभी पदार्थों की सभी प्रकार की गति में असाधारण रूप में सहायता करता है। दूसरे शब्दों में वह गति का असाधारण माध्यम (मीडियम) है। अधर्मास्तिकाय का लक्षण है—सब पदार्थों की स्थिति में—अगति में असाधारण रूप से सहाय करना। केवल 'ईथर' शब्द 'गति के माध्यम' के लिए प्रयुक्त होता है। गति और स्थिति को यदि हम अभिसमयानुसार 'धन' और 'ऋण' मान लें, तो धर्मास्तिकाय को धन ईथर और अधर्मास्तिकाय को ऋण ईथर की संज्ञा दी जा सकती है।

ये दोनों ईथर द्रव्य की दृष्टि से एक, अखण्ड और स्वतन्त्र वास्तविक द्रव्य है। क्षेत्र की दृष्टि से ये केवल लोकाकाश में व्याप्त है। अलोकाकाश में दोनों का ही अस्तित्व नहीं माना गया है, अतः जितनी लोकाकाश के प्रदेशों की संख्या है, उतनी ही इनके प्रदेशों की संख्या है—अर्थात् 'असंख्यात' हैं। काल की दृष्टि से ये अनादि और अनन्त हैं अर्थात् शाश्वत हैं। स्वरूप की दृष्टि से ये अभौतिक हैं; अमूर्त हैं; अगतिशील हैं; चैतन्य-रहित हैं।

आकाशद्रव्य का अस्तित्व अधिकांश दर्शन और विज्ञान निर्विवाद रूप से स्वीकार करते हैं; जबकि धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का अस्तित्व केवल जैन-दर्शन ही स्वीकार करता है। जैन आगमों में इनके लिए तर्क पर आधारित प्रमाण दिए गए हैं। कार्य-कारण के अनुसार प्रत्येक कार्य के लिए दो प्रकार के कारण आवश्यक हैं—उपादान और निमित्त। उपादान कारण वह है जो स्वयं कार्यरूप में परिणित हो जाए। निमित्त कारण वह है जो कार्य

के निष्पन्न होने में सहायक हो। यदि किसी पदार्थ की गति होती है, तो उसमें उपादान कारण तो वह पदार्थ स्वयं है किन्तु निमित्त कारण क्या है? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए हमें कोई ऐसे पदार्थ की आवश्यकता हो जाती है जिसकी सहायता पदार्थ की गति में अनिवार्य हो। यदि हवा आदि को निमित्त कारण माना जाए तो यह एक नया प्रश्न उत्पन्न हो जाता है कि उनकी (हवा आदि की) गति में कौन सा निमित्त कारण है? यदि इसी प्रकार किसी अन्य द्रव्य को निमित्त माना जाए, तो ऐसे कारणों की परम्परा चलती ही जाती है और 'अनवस्था दोष' (Regresus and Infirutum) की उत्पत्ति हो जाती है। इसलिए ऐसे पदार्थ की आवश्यकता हो जाती है जो स्वयं गतिमान न हो।

यदि पृथ्वी, जल आदि स्थिर द्रव्यों को निमित्त कारण के रूप में माना जाता है, तो भी यह युक्तियुक्त नहीं होता है, क्योंकि ये पदार्थ समस्त लोकव्यापी नहीं हैं। यह आवश्यक है कि गति-माध्यम के रूप में पदार्थ को माना जाता है, वह सर्वव्यापी हो। इस प्रकार किसी ऐसे द्रव्य की कल्पना करनी पड़ेगी जो—

- (1) स्वयं गति शून्य हो,
- (2) समस्त लोक में व्याप्त हो,
- (3) दूसरे पदार्थों की गति में सहायक हो सके।

ऐसा द्रव्य धर्मास्तिकाय ही है। यहां यदि धर्मास्तिकाय का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार न करके आकाश द्रव्य को ही इन लक्षणों से युक्त माना जाए, तो भी एक बड़ी कठिनाई उपस्थित होती है। क्योंकि यदि आकाश द्रव्य ही पदार्थों की गति में सहायक हो, तो आकाश असीम और अनन्त होने के कारण गतिमान पदार्थों की गति भी अनन्त आकाश में शक्य हो जाती है—उनकी गति अबाधित हो जाती है। परिणाम स्वरूप अनन्त आत्माएं और अनन्त जड़ पदार्थ अनन्त आकाश में निरंकुशतया गति करने लग जाते हैं और उनका परस्पर संयोग होना और व्यवस्थित, सांत और निर्वासित विश्व के रूप में लोकाकाश का होना असम्भव हो जाता है। किन्तु इस विश्व का रूप व्यवस्थित है। विश्व एक क्रमबद्ध संसार (Cosmos) के रूप में दिखाई देता है, न कि अव्यवस्थित ढेर (Chaos) की तरह। ये तथ्य हमें इस निर्णय पर ले जाते हैं कि विश्व की व्यवस्था का आधार किसी स्वतन्त्र नियम पर है। परिणाम स्वरूप हमें यह निर्णय करना पड़ता है कि पदार्थों की गति-अगति में सहायक आकाश नहीं, अपितु धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय नामक स्वतंत्र द्रव्य है।

जिस प्रकार गति-स्थिति के निमित्त के रूप में धर्म और अधर्म द्रव्यों की उपधारणा (Postulation) आवश्यक है, उसी प्रकार लोक-अलोक के विभाजन में भी इनको माने बिना तर्क-सम्मत समाधान नहीं मिलता। जैसे कुन्दुकुन्दाचार्य ने लिखा है; 'लोक सीमित है

और उससे आगे अलोक-आकाश असीम है। इसलिए पदार्थों की और प्राणियों की व्यवस्थित रूपरेखा को बनाए रखने के लिए आकाश के अतिरिक्त अन्य कोई तत्व होना चाहिये—यदि गति और अगति का माध्यम आकाश ही है, तो फिर अलोक-आकाश का अस्तित्व ही नहीं रहेगा और लोक-व्यवस्था का भी लोप हो जाएगा।'

लोक और अलोक का विभाजन एक शाश्वत सत्य है, अतः इसके विभाजक तत्व भी शाश्वत होने चाहिये। कृत्रिम वस्तु से शाश्वत आकाश का विभाजन नहीं हो सकता। अतः ऊपर बताये गए छः द्रव्यों में से ही विभाजक तत्व हो सकते हैं। यदि हम आकाश को ही विभाजक मानें, तो यह उपयुक्त नहीं होगा, क्योंकि आकाश स्वयं विभज्यमान है, अतः वह विभाजन का हेतु नहीं बन सकता। यदि काल को विभाजक तत्व माना जाए तो भी तर्क संगत नहीं होता, क्योंकि काल वस्तुतः (निश्चय दृष्टि से तो) जीव और अजीव की पर्याय मात्र है। यह केवल औपचारिक द्रव्य है। व्यावहारिक काल लोक के सीमित क्षेत्र में ही विद्यमान है, जबकि नैसर्गिक काल लोक और अलोक दोनों में है। जीव और पुद्गल गतिशील द्रव्य हैं, अतः ये विभाजक तत्व के योग्य नहीं हैं। इस प्रकार छः द्रव्यों में से दो द्रव्य शेष रह जाते हैं, जो लोक-अलोक का विभाजन कर सकते हैं। अतः धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय—ये दो द्रव्य ही आकाश का विभाजन करते हैं। जहां-जहां ये दो विद्यमान हैं, वहां-वहां जीव और पुद्गल गति करते हैं और स्थिर रहते हैं। जहां इनका अस्तित्व नहीं है, वहां किसी भी द्रव्य की गति और स्थिति सम्भव नहीं है। इस प्रकार लोकाकाश और अलोकाकाश का विभाजन हो जाता है। इसलिए कहा गया है—'धर्म और अधर्म को लोक तथा अलोक का परिच्छेद मानना युक्तियुक्त है। यदि ऐसा न हो तो उनके विभाग का आधार ही क्या बने?''

इस प्रकार धर्मास्तिकाय व अधर्मास्तिकाय गति-स्थिति-निमित्तक और लोक-अलोक-विभाजक द्रव्यों के रूप में स्वीकार किए गये हैं। इस समग्र विवेचन को संक्षिप्त में इस प्रकार कहा जा सकता है : धर्मास्तिकाय (धन ईथर), अधर्मास्तिकाय (ऋण ईथर) आकाश, काल, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय—इन छः द्रव्यों से बना हुआ यह लोक परिमित है। इस लोक से परे आकाश-द्रव्य का अनन्त समुद्र है, जिसमें ईथरों के अभाव के कारण कोई जड़ पदार्थ या जीव गति करने में, ठहरने में समर्थ नहीं है।

### काल द्रव्य

छः द्रव्यों में 'काल-द्रव्य' एक ऐसा तत्व रहा है जिसके स्वरूप के विषय में सभी जैनाचार्य एकमत नहीं हैं, जबकि आकाश, धर्म और अधर्म—इन तीन द्रव्यों के स्वरूप के विषय में विभिन्न जैनाचार्य एकमत हैं। 'काल' शब्द के विभिन्न अर्थ होते हैं, किन्तु जैन

दर्शन की द्रव्यमीमांसा में प्रयुक्त 'काल' शब्द का पर्यावाचयी 'समय' है। वैसे 'समय' का पारिभाषिक अर्थ जैन-दर्शन के अनुसार 'काल का अविभाज्य अंश' है। किन्तु सामान्य व्यवहार में प्रयुक्त 'समय' शब्द 'काल' का ही सूचक है। जहां द्रव्यों की गणना आई है, वहां काल को भी गिना गया है। जहां अस्तिकायों का वर्णन है, वहां काल को नहीं गिना गया है। श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा इस विषय में तो एकमत हैं ही कि 'काल' अस्तिकाय नहीं है। अस्तिकाय शब्द की व्याख्या करते हुए कहा गया है जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म तथा आकाश—ये पांचों द्रव्य विद्यमान हैं, इसलिए इनको 'अस्ति' (है) ऐसा कहा गया है और ये 'काय' के समान बहु प्रदेशों को धारण करते हैं, इसलिए इनको 'काय' कहते हैं। 'अस्ति' तथा 'काय' दोनों को मिलाने से 'अस्तिकाय' होता है।" ये पांच द्रव्य केवल अस्तित्ववान ही नहीं हैं या केवल प्रदेशसमूह ही नहीं हैं, किन्तु दोनों ही हैं, अतः 'अस्तिकाय' संज्ञा से बताए गए हैं। इनके प्रदेशों की विद्यमानता के कारण ये तिर्यक्-प्रचय-स्कन्ध' के रूप में हैं और विस्तार इनका सहज गुण हो जाता है। धर्म, अधर्म, आकाश और जीव के स्कन्धों के परमाणु जितने काल्पनिक विभाग किए जाएं, तो आकाश के अनन्त और शेष तीनों के असंख्य होते हैं। ये विभाग 'प्रदेश' कहलाते हैं। इस प्रकार आकाश अनन्त प्रदेशात्मक और धर्म, अधर्म और एक जीव असंख्यात प्रदेशात्मक है। पुद्गल के परमाणु जब जुड़ते हैं, तब स्कन्धों का निर्माण होता है। दो परमाणुओं के मिलने से द्विप्रदेशी पुद्गल-स्कन्ध बनता है। यावत् अनन्त के जुड़ने से अनन्त-प्रदेशी स्कन्ध है। इस प्रकार 'काल' को छोड़ कर शेष पांचों ही द्रव्यों के 'प्रदेश' होते हैं। केवल काल अप्रदेशी है। काल का केवल वर्तमान समय ही अस्तित्व में होता है। भूत समय तो व्यतीत हो चुका है—नष्ट हो चुका है और अनागत (भविष्य) समय अनुत्पन्न है। वर्तमान समय 'एक' होता है, इसलिए इसका तिर्यक्-प्रचय नहीं होता अर्थात् काल 'अस्तिकाय' नहीं है।

काल की वास्तविकता के विषय में जैनाचार्यों में परस्पर मतभेद रहा है। श्वेताम्बर-परम्परा में आचार्यों ने काल के दो भेद कर दिये हैं: व्यावहारिक काल और नैश्चयिक काल। नैश्चयिक काल अन्य द्रव्यों के परिवर्तन का हेतु है। जीव, पुद्गल आदि द्रव्यों में प्रत्येक समय में जो परिणमन होता रहता है—पर्याय बदलती रहती है, वह नैश्चयिक काल के निमित्त से हैं। दूसरे शब्दों में, नैश्चयिक काल को जीव और अजीव की पर्याय कहा गया है।

जो जिस द्रव्य की पर्याय है, वह उस द्रव्य के अन्तर्गत ही है, अतः जीव की पर्याय जीव है और अजीव की पर्याय अजीव। इस प्रकार नैश्चयिक काल जीव भी है और अजीव भी है। काल का निरूपण जब निश्चय नय की दृष्टि से होता है तब वह 'नैश्चयिक काल'



कहलाता है, अतः वास्तविक काल 'नैश्चयिक काल' ही माना गया है। दूसरी ओर काल का जब व्यवहार नय की दृष्टि से निरूपण होता है, तब वह 'व्यावहारिक काल कहलाता है। व्यावहारिक काल को 'द्रव्य' कहा गया है। काल को व्यावहारिक दृष्टि से 'द्रव्य' मानने का कारण यही है कि काल के कुछ एक उपकार अथवा लक्षण व्यवहार में अत्यन्त उपयोगी है और 'उपकारक' होता है, उसको द्रव्य कहा जा सकता है। जिन उपकारों के कारण काल 'द्रव्य' की कोटि में गिना जाता है, वे मुख्यतया पांच हैं—

वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व, अपरत्व।

'वर्तना' का अर्थ है—वर्तमान रहना—किसी भी पदार्थ के 'वर्तमान रहने' का अर्थ यही है कि उसका अस्तित्व कुछ 'अवधि' तक होता है। यह 'अवधि' शब्द काल का ही सूचक है। यद्यपि 'काल' किसी भी द्रव्य को अस्तित्व की अवस्थिति प्रदान नहीं करता, फिर भी जिस अवधि तक पदार्थ रहता है, वह काल के उन सब क्षणों का सूचक है, जिसमें पदार्थ का अस्तित्व बना रहता है। 'वर्तना' की तरह 'परिणमन' को भी 'काल' के बिना नहीं समझाया जा सकता। जब किसी पदार्थ में परिणमन होता है, तब स्वाभाविक रूप से उस परिवर्तन की कालावधि का सूचन हमें होता है। 'क्रिया' में गति आदि का समावेश होता है। 'गति' का अर्थ है—आकाश-प्रदेशों में क्रमशः स्थान परिवर्तन करना। अतः किसी भी पदार्थ की गति में स्थान-परिवर्तन का विचार उसमें लगने वाले काल के साथ किया जाता है। इसी प्रकार अन्य क्रियाओं में भी समय का व्यय होता है। परत्व और अपरत्व अर्थात् 'पहले होना' और 'बाद में होना' अथवा 'पुराना' और 'नया', ये विचार भी काल के बिना नहीं समझाये जा सकते। इस प्रकार व्यवहार में वर्तना आदि को समझने के लिए काल को 'द्रव्य' माना गया है।

व्यावहारिक काल 'गणनात्मक' है। काल के सूक्ष्मतम अंश में समय से लेकर पुद्गल-परावर्तन तक के अनेक कालमान व्यावहारिक काल के ही भेद हैं। इसमें घड़ी, मुहूर्त, अहोरात्र, मास, वर्ष आदि अथवा सैकिण्ड, मिनिट, घण्टा आदि के भेद भी समाविष्ट हैं। सूर्य-चन्द्र की गति के आधार से इनका माप किया जा सकता है। किन्तु जैन-दर्शन के अनुसार विश्व के सब स्थानों में सूर्य-चन्द्र की गति नहीं होती है। एक मर्यादित क्षेत्र को छोड़ कर शेष स्थानों में जहां ये आकाशी पिण्ड स्थिर हैं, वहां दिन, रात्रि आदि कालमान नहीं होते। इसलिए यह माना गया है कि व्यावहारिक काल केवल 'समय-क्षेत्र' तक सीमित है।

इस समग्र विवेचन का सारांश यही है कि काल स्वयं में कोई स्वतन्त्र 'वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता' नहीं है, किन्तु 'वस्तु-सापेक्ष वास्तविकताओं' का ही एक अंग-पर्याय है।

कुछ एक अन्य आचार्यों की मान्यता के अनुसार नैश्चयिक काल वास्तविक द्रव्य है, जबकि व्यावहारिक काल नैश्चयिक काल की पर्याय-रूप है।

### दिगम्बर-परम्परा में काल

दिगम्बर-परम्परा में 'काल' के विषय में जो प्रतिपादन किया गया है, वह उक्त मन्तव्य से सर्वथा भिन्न रूप में है। यद्यपि दिगम्बर आचार्यों ने काल के दो भेद—नैश्चयिक और व्यावहारिक काल स्वीकार किए हैं, फिर भी इनकी परिभाषाएँ भिन्न प्रकार से की हैं। सुप्रसिद्ध दिगम्बर आचार्य श्री नेमीचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती (ई. 10 वीं शताब्दी) काल के विषय में लिखते हैं : "जो द्रव्यों के परिवर्तन-रूप, परिणाम-रूप देखा जाता है, वह तो व्यावहारिक काल है और 'वर्तना लक्षण' का धारक जो काल है, वह नैश्चयिक काल है। जो लोकाकाश के एक-एक प्रदेश में रत्नों की राशि के समान परस्पर भिन्न होकर एक-एक स्थित है और असंख्यात द्रव्य हैं। 'नैश्चयिक काल' जो कि कालाणुओं के रूप में है, वास्तविक द्रव्य है और संख्या की अपेक्षा से—असंख्यात है, क्योंकि लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश हैं और प्रत्येक प्रदेश पर एक-एक कालाणु स्थित है। ये कालाणु एक-दूसरे से स्वतन्त्र हैं, इसीलिए काल-द्रव्य अस्तिकाय नहीं बनता। कालाणु-रूप नैश्चयिक काल 'वर्तना' लक्षण के द्वारा जाना जाता है। प्रत्येक द्रव्य के समय-समय में होने वाले परिणमनों में उपादान कारण तो वे स्वयं ही होते हैं। किन्तु उन परिणमनों में निमित्त रूप से सहायक कालाणु होते हैं और उनकी सहकारिता को 'वर्तना' कहते हैं। कुछ एक आचार्यों के अनुसार द्रव्यों में होने वाले पर्याय-रूप परिवर्तन में भी प्रति समय जो द्रव्य के ध्रौव्य की अनुभूति होती है, वह वर्तना है। इस वर्तना लक्षण का धारक जो कालाणु द्रव्य है, वह नैश्चयिक काल है। तात्पर्य यही है कि कालाणु के निमित्त से द्रव्यों में परिवर्तन (पर्याय) होता है और साथ-साथ उनके अस्तित्व की भी ध्रुवता बनी रहती है। कालाणु स्वयं भी उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्य-रूप त्रिपुटी से युक्त माना गया है। वर्तमान 'समय' की उत्पत्ति होती है, अतीत समय का विनाश और इन दोनों के आधारभूत कालाणु ध्रुव रह जाते हैं। इस प्रकार जो द्रव्य की परिभाषा है वह कालाणु पर लागू होती है और इसीलिए कालाणु वास्तविक द्रव्य माना गया है।

द्रव्यों में नवीन और प्राचीन आदि पर्यायों के समय, घड़ी, मुहूर्त आदि रूप स्थिति को 'व्यावहारिक काल' की संज्ञा दी गई है अर्थात् द्रव्य की पर्याय से संबंध रखने वाली जो समय, घटिका आदि रूप स्थिति है, वह स्थिति ही 'व्यवहार काल' संज्ञा की धारक होती है किन्तु जो द्रव्य की पर्याय है वह 'व्यवहार काल' नहीं है। यह व्यावहारिक काल आदि और

अन्त सहित होता है जबकि नैश्चयिक काल (कालाणु) शाश्वत है—आदि-अन्त रहित है।  
व्यावहारिक काल स्वयं द्रव्य नहीं है।

इस प्रकार नैश्चयिक काल (जो स्वतंत्र द्रव्य है) के निमित्त से अन्य द्रव्यों में पर्यायरूप परिवर्तन होता है और इन पर्यायों की स्थिति में 'व्यावहारिक काल' जाना जाता है।

अस्तु, श्वेताम्बर-परम्परा में नैश्चयिक काल को केवल जीव और अजीव की पर्यायरूप माना गया है। दिगम्बर-परम्परा में नैश्चयिक काल को वस्तु-सापेक्ष स्वतंत्र वास्तविकता के रूप में स्वीकार किया गया है।

—प्रोफेसर जैन विद्या धर्म और दर्शन विभाग  
जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनू



## काव्य मीमांसा

# आचार्य विद्यासागर प्रणीत 'निरञ्जन शतक'

✍ पं. विश्वनाथ मिश्र

कवि का कर्म काव्य कारुण्योद्रेक का विवर्त होता है अथवा कविनिष्ठ अलोक सामान्य प्रतिभा का अभिव्यञ्जक होता है, किंवा वेद्यान्तर-सम्पर्कशून्य अलौकिक आनन्द का अधिष्ठान होता है। कहा गया है-

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महतां कवीनाम् ।

अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ॥ ध्वन्या ॥ ६ ॥

कवि क्रान्तद्रष्टा होता है। वह प्रजापति है। नव रसोपेत ह्लादमयी उसकी सृष्टि ब्रह्मा की सृष्टि से विलक्षण होती है। उसका चिन्तन जैसा होता है वैसे ही काव्य की रचना होती है। यदि कवि रागी है तब काव्य शृङ्गारादि रसप्रधान होता है। संसार की विनश्वरता और उद्वेजकता को देख कर विरक्तमना कवि की रचना वैराग्योपपादिका होती है। काव्य का उद्गम स्थल द्रवीभूत हृदय है। हृदय की यह द्रवावस्था संयोग और वियोग दोनों स्थितियों में होती है। क्रौञ्चद्वन्द्व वियोगोत्थ वाल्मीकि का शोक जो चित्तवृत्ति विशेष है, वही श्लोक बन गया—

'क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः' ॥ इसलिये काव्य में हृदय पक्ष की प्रधानता होने से भावपक्ष ही श्रेष्ठ होता है।

काव्य में दो बातें अपेक्षित होती हैं। प्रथम तो कवि कुछ कहना चाहता है। दूसरी बात यह कि अपने कथ्य के लिये वह रचना-कौशल का आलम्बन लेता है। इनमें पहले को भावपक्ष और दूसरे को कलापक्ष कहते हैं।

काव्य के लिये दुनिया की साधारण वस्तुयें ही उपादान बनती हैं किन्तु उनका अर्थ असाधारण होता है। विवेचकों का कहना है कि यदि कवि के शब्द सर्वजनवेद्य साधारण अर्थ को ही बता कर रह जाते हैं तो वह काव्य उत्तम कोटि का नहीं माना जा सकता। जब छन्द अलंकार, पदसंघटना आदि के योग से कवि पाठक के चित्त को संकीर्णताओं से ऊपर उठाता है, काव्य के परोपनिषद् व्यङ्ग्य रसादि में पाठक तल्लीन हो जाता है तब उस काव्य को उत्तम काव्य की संज्ञा मिलती है। काव्य की यह उत्तमता उसके भाव पक्ष पर ही निर्भर है। प्रतीयमान भाव ही सहृदय हृदयावर्जक होकर काव्यात्म पद को प्राप्त करता है।

कवि यदि छन्द अलंकार पदलालित्य को ही बड़ा दिखाने का प्रयास करता है तो वह काव्य उत्तम काव्य नहीं कहा जा सकता। शब्दाडंबर और अलंकारों के अन्वेषण में परायण पाठक भावपक्ष से कोसों दूर चला जाता है। मनुष्य को देवता बनाना ही काव्य का सबसे बड़ा उद्देश्य है। मनुष्य को इहलोक की संकीर्णताओं से ऊपर उठाकर सत्त्वगुण में प्रतिष्ठित करना, उसे परदुःखकातर और संवेदनशील बनाना तथा निखिल जगत् के भीतर एक चिरन्तन सत्य की अनुभूति करा कर प्राणीमात्र के साथ आत्मीयता का अनुभव कराना ही काव्य का कार्य है। छन्द, अलंकार, और पदलालित्य आदि काव्य के बहिरङ्ग तत्त्व इसी महान् उद्देश्य की पूर्ति के साधन हैं। इन्हें काव्य में साध्य नहीं बनाया जा सकता। साध्य बनने पर तो ये काव्य की उत्तमता के विघातक ही होते हैं, क्योंकि काव्य का प्राणतत्त्व तो व्यङ्ग्य, रसादि ध्वनि ही है। काव्यात्म तत्त्व को व्यक्त करने में एकतान कवि के लिये तो अलंकारादि की योजना अपृथक् यत्न निर्वर्त्य ही होती है। रसादि के अनुकूल अलङ्कार स्वयमेव कवि के सामने स्फुरित होते हैं। कवि को उनके लिये यत्न नहीं करना पड़ता। आनन्दवर्धन का कहना है :—

रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।

अपृथक्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः ॥2/39

रसादिध्वनि में वही अलंकार उपकारक माना गया है जो रसनिबन्धनानुकूल प्रयास से ही निष्पन्न हो जाता हो अर्थात् जिसके लिये कवि को पृथक् यत्न न करना पड़े। इस प्रकार के अपृथक् यत्न निर्वर्त्य अलंकार काव्यात्मा ध्वनि के उपकारक होते हैं। ऐसे स्थलों में भावपक्ष और कलापक्ष का पोष्य-पोषक भाव सम्बन्ध होता है।

इस विवेचन को सन्दर्भित करते हुए हम जब निरञ्जन शतक के ऊपर दृष्टिपात करते हैं तो लगता है कि इस शतक में भावपक्ष की ही महनीयता है। जैसा कि इस शतक का नाम है 'निरञ्जनशतक'। इस नाम के अनुसार ही काव्य का प्रतिपाद्य है। निरञ्जन कहते हैं उसे जिसमें से अञ्जन अर्थात् कालुष्य निकल गया है—निर्गतम् अञ्जनं यस्मात् ऐसा निरञ्जन तत्त्व ही इस काव्य का बिम्ब है। वह स्व प्रकाश है। वह निखिलगुण गणालय है, वह मनुष्यों और देवों का स्तोतव्य तथा मुनिमनोरञ्जन है, वही हमारा प्राप्तव्य है, वही गन्तव्य है। यह भीषण भवाटवी तो केवल भटकाने वाली है। हमें यह वाञ्छित नहीं है। हम तो इसका उच्छेद ही चाहते हैं। इसीलिये प्रथम श्लोक में ही कवि का कहना है कि 'भवलयाय करोमि समासतः स्तुतिमिमां च मुदात्र समासतः।

अपना संसार—परिभ्रमण नष्ट करने के लिये हर्षसहित जिनेश्वर की संक्षेप में स्तुति कर रहा हूँ। वह निरञ्जन तत्त्व शान्त है, शिव है और अनन्त सुखों का आलय किंवा सुखात्मक ही है। प्राणीमात्र को सुख की कामना है। सुख मिले तो कहां? सुख तो वहीं मिलेगा, जहां उसका प्राचुर्य हो। इसलिये सुखेप्सु व्यक्ति आपके चरणों की सेवा करता है। क्या निर्धन व्यक्ति धन प्राप्ति के लिये धनिक की सेवा नहीं करते?

इस प्रकार की स्तुति के द्वारा अर्हन्त देव विषयक कविनिष्ठ रति की अभिव्यक्ति होती है। देवविषयक रति को भाव कहते हैं — “रतिर्देवादि विषया व्यभिचारी तथाञ्जितः भावः प्रोक्तः। भाव भी आस्वाद का विषय होने से रस की सीमा में ही आता है। “रस्यते आस्वाद्यते इति रसः” इस व्युत्पत्ति के आधार पर यन्निष्ठआस्वादविषयता आस्वादयिता का तन्मयीभाव कर दे, वह रस ही है। कहा गया है—‘रसो वै सः’ रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दीभवति ॥ इस सन्दर्भ में यह श्लोक कितना मार्मिक है—

पदयुगं शिवदं नु शमीहते श्रयतु चेत् स्वपदं स समीहते।

अधनिनोधनिनं हि धनाप्यते किमु भजन्ति न लब्धधनाप्तये ॥

इस श्लोक में शमीहते, समीहते, धनाप्यते, धनाप्तये। इन चारपदों में अन्त्यानुप्रास है। इस अनुप्रास के लिये कवि को आयास नहीं करना पड़ा है किन्तु यह अलंकार यहां अपृथग्यत्न निर्वर्त्य है। इसके द्वारा अर्थचमत्कृति इस प्रकार होती है—

स स्वपदं समीहते चेत्— यदि कोई व्यक्ति स्वपद अर्थात् शुद्धात्म तत्त्व को प्राप्त करना चाहता है तो यह निश्चय है कि वह शम् कल्याणम् मोक्षं वा ईहते—चाहता है। ऐसा व्यक्ति शिवदं कल्याण देने वाले आपके पदयुगल की सेवा करे। यहां अन्तिम लब्धधनाप्तये इस पद में खण्ड करके हे लब्धधन अर्थात् हे आत्मधन! हे आप्त पुरुष! क्या धन प्राप्ति के लिये तुलसी प्रज्ञा जुलाई—सितम्बर, 1999

निर्धन व्यक्ति धनिक की सेवा नहीं करता। यहां अपने आराध्य के प्रति कवि की अनन्य निष्ठा व्यक्त होती है।

अपने आराध्य के मंगलमय विग्रह की अपूर्व कल्पना कवि के तद्रूप तादात्म्य का अनुपम उदाहरण है। इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य है यह श्लोक :—

तवललाटतटे ललिते ह्यये, स्थित कचावलिमित्थमहं ह्यये।

सरसि चोल्लसिते कमलेऽमले सविनयं स्थितिरिष्ट सतामलेः॥

हे सताम् इष्ट! सज्जनों के प्रिय! आपके सुन्दर ललाट तल पर स्थित केशावली ऐसी भासित हो रही है जैसे स्वच्छ तालाब में कमल पर नम्रतापूर्वक बैठी हुई भ्रमरावली हो।

यहां ललाट तट का उपमान कमल है और केशावली का उपमान भ्रमरावली है। उपमान और उपमेय के वाच्य होने पर भी उपमावाचक इवादि शब्दों के न होने से यहां उपमा की व्यङ्ग्यता स्पष्ट है। उपमानोपमेय का साधारण धर्म कृष्णवर्णता भी श्लोक में अनुक्त है। इस प्रकार वाचक धर्म लुप्ता उपमा यहां व्यङ्ग्य होकर कविनिष्ठ रति भाव की पोषिका हो रही है। उपमा के रतिभाव में गौण होने पर भी इसे गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य नहीं कह सकते, क्योंकि भगवद् विषयक रति के मुख्य होने से यह उत्तम काव्य ही कहा जायेगा। इस प्रकार यह श्लोक भावपक्ष का सुन्दर उदाहरण है। कलापक्ष की न्यूनता न होने पर भी यहां प्रधानता भाव पक्ष की ही है। कलापक्ष वाच्य है जबकि भावपक्ष व्यङ्ग्य है।

रूपक अलंकार अर्थालंकार है, वह काव्य के लिये उपादेय है। इसमें उपमेय में उपमानत्व का आरोप किया जाता है। उपमेय को उपमान समझना चमत्काराधायक होता है। इस निरञ्जन शतक में रूपकालंकार का बाहुल्य है। द्रष्टव्य है श्लोक संख्या पन्द्रह—

अपयशां रजसां वपुषाकरः तव जितो महसा सनिशाकरः।

जिन! रतोऽत्र ततोऽप्यमहानये, नखमिषेण पदे ह्यघनाशये॥

हे जिन! आपके सौन्दर्य से चन्द्रमा पराभूत है, इसलिये अपयश का भाजन वह चन्द्र नख के बहाने आपके चरणों में आ पड़ा है। यहां नख में चन्द्रत्व का आरोप निश्चय ही काव्य का उत्कर्षाधायक है अथवा 'नेमे नखाः किन्तु चन्द्रः' इस प्रकार नख का निषेध कर चन्द्र का व्याख्यापन करना अपहृति अलंकार भी यहां कहा जा सकता है। अपहृति का दूसरा उदाहरण निम्न लिखित श्लोक है:—

असित कोटिमिता अमिता तके नहि कचा अलिभास्तव तात के।

वरतपोऽनलतो बहिरागता सघन धूममिषेणहि रागता॥

भगवान के शिर पर अपरिमित काले केश हैं। वे केश नहीं हैं किन्तु उत्कृष्ट ध्यान रूपी अग्नि से उठे हुए धूम के बहाने भीतर की रागपरिणति बाहर आयी है।

यहां केश का निषेधकर उसे उत्कृष्ट ध्यानाग्नि समुत्थ धूमकल्प राग के रूप में देखना अपहृति का उत्कृष्ट उदाहरण है। इस प्रकार यहां उपास्य के गुण कर्म की उत्कृष्टता, तद् विषयक रति की सम्पोषिका होकर इसे उत्तम काव्य की प्रयोजिका होती है।

दार्शनिक गूढ़ रहस्यों को काव्य की भाषा में बांधना अनितरसाधारण प्रतिभा का अभिव्यञ्जक होता है। कवि ने दर्शन के हार्द को किस प्रकार काव्य में गुम्फित किया है, इसका एक उदाहरण प्रस्तुत है—

त्वयि जगद् युगपन्मुनिरञ्जने लयमुपैति भवं च निरञ्जने।

परममान सुमेयतया तया सरसि वीचिवदेव न वार्तया॥

मुनिजनरञ्जन निरञ्जन आप में यह जगत् एक ही साथ उत्पाद, व्यय ध्रौव्य को या उत्पत्ति-स्थिति-लय को उस प्रकार प्राप्त हो रहा है जिस प्रकार सरोवर में तरंग उठती है, रहती और विलीन हो जाती है। इस सन्दर्भ में उपनिषद् वाक्य है

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति''

वह अखण्ड चिद्घनानन्द तत्त्व जिससे निखिल प्राणी उत्पन्न होते हैं, उसी में जीवन व्यतीत करते हैं और उसी में लीन होते हैं। इस प्रकार उत्पत्ति, स्थिति और लय का समानाधिकरण वृत्तित्व तत्त्ववेत्तावेद्य ही है। कवि ने इस रहस्य को काव्य की भाषा में व्यक्त कर अपने आराध्य की महनीयता को बताया है जो भावपक्ष की उत्कृष्टता को व्यक्त कर रहा है।

कवि की विरागता उत्कृष्ट है। इसका ध्येय गेय और प्रतिपाद्य एक मात्र उसका आराध्य है। अनेक प्रकार की उत्प्रेक्षाओं तथा रूपकों के द्वारा कवि अपने आराध्य को अनेक रूपों में देखता है। कभी तो यह भगवान् के चरण की अंगुलियों में संसक्त नखों को चन्द्रमा समझता है और कभी उसका आराध्य ही चन्द्र रूप से उत्प्रेक्षित होता है। देखिये प्रस्तुत पद्य में कवि की भावप्रवणता -

असि शशी सितशीत सुधाकरैः : स्वगतशुद्धगुणैश्च सदाकरैः।

यदि न दृक्सलिलं समभावि भो मम मनोमणितो न झरेद् विभो।

हे विभो! आप उज्ज्वल, शीतल सुधा के समान अपने शुद्ध गुण रूपी किरणों से चन्द्रमा हैं। अन्यथा मेरे मन रूपी चन्द्रकान्त मणि से तत्काल सम्यग्दर्शन रूप जल नहीं झरता।

चन्द्रकिरणों के सम्पर्क से चन्द्रकान्तमणि स्यन्दित हो जाती है, यह प्रसिद्धि है। यहां मन में चन्द्रकान्त मणि का आरोप सम्यग्दर्शन में स्यन्दित जलारोप का हेतु है। इस प्रकार यहां परम्परित रूपक के द्वारा कवि अपने आराध्य के दिव्य गुणों को व्यक्त कर रहा है। देव विषयक कवि की यह रति भाव ध्वनि का उत्कृष्ट उदाहरण है।



यह निरञ्जनशतक भगवान् जिनेश्वर की स्तुति है। इसके द्वारा व्यक्त किया गया है कि भगवान् ही आराध्य, सेव्य, गेय तथा प्राप्तव्य है। संसार का आकर्षण बन्धन का प्रयोजक है। इसकी असारता का रहस्य जैसे जैसे खुलता जाता है, वैसे-वैसे इसके प्रति वैराग्य उदित होता है। आनन्द वर्धन का इस सम्बन्ध में कहना है कि-

यथा यथा विपर्येति लोकतन्त्रमसारवत्।

तथा तथा विरागोऽत्र जायते नात्र संशयः॥ ध्वन्यालोक ४/६१२

ज्यों ज्यों इस संसार प्रपञ्च की असारता की प्रतीति होती है त्यों त्यों प्रेक्षावान् पुरुष को इस सांसारिक विषय से वैराग्य होता है। वह इससे सदा के लिये मुक्ति ही चाहता है। प्रस्तुत कवि का हृदय वैराग्य भावना से ओतप्रोत है। अपनी इस भावना को वह इस प्रकार व्यक्त कर रहा है

ननु नरेशसुखं सुरसम्पदं ह्यभिलषामि न भुव्यपि सत्पदम्।

जड़तनोर्वहनं द्रुतमेत्विति अज मतिः खरवत् किल मे त्विति। ९२

कवि का कहना है कि हे अज! मैं राजसुख देव विभूति और पृथ्वी पर समीचीन पद नहीं चाहता किन्तु गर्दभ के समान जड़ शरीर का ढोना शीघ्र ही समाप्त हो, यही मेरी चाह है। तात्पर्य यह है कि चेतना का जड़ शरीर में बार-बार आबद्ध होकर इस भवाटवी में भटकना कब तक चलता रहेगा। इसलिये मुझे वैषयिक सुख से वितृष्णा है। मैं तो अब अक्षय पद की ही कामना करता हूँ।

इस प्रकार कवि ने इस श्लोक में अपने हार्द को व्यक्त कर काव्य में भाव पक्ष की मौलिकता को अभिव्यक्त किया है। इसी प्रकार कवि की उक्ति अन्यत्र भी उपलब्ध है। कवि का कहना है कि मेरी बुद्धि भगवान् के प्रति अनुरागवती है। परिणाम स्वरूप- 'जगदिदं क्षणिकं नहि रोचते' यह क्षणिक और नीरस संसार मेरे चिन्तन का आलम्बन नहीं हो सकता। मेरा हृदय तो एकमात्र आपका ही अधिष्ठान है। परिणाम स्वरूप मुझ में विराग ही प्रकट रहता है। जिस प्रकार पद्मराग मणि के सम्पर्क से दूध में लालिमा आ जाती है। यहां भगवान् की तुलना पद्मराग मणि से तथा विरागता की तुलना दूध की लालिमा से की गई है। इस अर्थ का बोधक श्लोक इस प्रकार है-

सति हृदि त्वयि मेऽत्र विरागता समुदिता गुणतामितरागता।

पयसि चेत् सुमणौ न पयोऽङ्गतिदरुणता किमु याति नियोगतः॥ 26 ॥

जहां अनन्त ज्ञान, अनन्त ऐश्वर्य और अनन्त आनन्द के अधिष्ठान भगवान् की स्थिति है, वहां सांसारिक विषयों में आसक्ति का प्रश्न ही नहीं। इसीलिये तो कवि का कहना है "सति हृदि त्वयि मेऽत्र विरागता" आपके हृदय में रहने के कारण मेरा वैषयिक विराग है। इस काव्य के द्वारा कवि की भगवन्निष्ठा अनन्य साधारण व्यक्त होती है।

काव्य को मोटे तौर पर दो विभागों में बांटा गया है। पहला विषय प्रधान और दूसरा विषयी प्रधान। पहले काव्य में कवि बहिर्जगत् में अपने को लीन करके अपने बाहर रहने वाली वस्तु में सौन्दर्य का साक्षात्कार करता है। दूसरे काव्य में वह अपनी ही सुखदुःखात्मक अनुभूतियों को प्रकट करता है। इस प्रकार अनुभूतियों के माध्यम से अपने ही को प्रकट करने के कारण ऐसे काव्य विषयी प्रधान काव्य कहे जाते हैं।

इस परिप्रेक्ष्य में जब 'निरञ्जनशतक' के ऊपर दृष्टिपात किया जाता है तब हम पाते हैं कि यह विषयी प्रधान काव्य है। यहां प्रथम श्लोक से लेकर अन्तिम श्लोक तक कवि ने आराध्य के सम्मुख अपने को ही प्रस्तुत किया है। संसार से उसकी आत्यन्तिक वितृष्णा है। वह इसका समापन चाहता है। पहले ही पद्य में कवि का कहना है

'भवलयाय करोमि समासतः स्तुतिमिमाम्'

संसार परिभ्रमण नष्ट करने के लिये मैं हर्ष सहित जिनेश्वर की स्तुति कर रहा हूँ। शतक के अन्तिम श्लोक में भी कवि का यही कहना है कि पृथिवी पर निश्चय से पुण्योदय प्रयुक्त स्वर्ग को मैं नहीं चाहता हूँ किन्तु विषमय अविद्या को छोड़ कर ज्ञानरूप सागर में उत्पन्न आत्म विद्यारूपी सुधा को ही चाहता हूँ। इस प्रकार कवि ने अपनी अनुभूतियों को प्रकट कर इस काव्य को भाव प्रधान काव्य बना दिया है।

भाव पक्ष की प्रधानता होने पर भी इस शतक में कला पक्ष उपेक्षित नहीं है। प्रत्येक पद्य में अनुप्रास और यमक आदि अलंकार यहां देखने को मिलते हैं। अन्त्यानुप्रास या तुक तो प्रत्येक श्लोक में है। तुक का काव्य में न होना कोई दोष नहीं है, किन्तु उसका होना गुण अवश्य है। यमक और अनुप्रास आदि शब्दालंकारों से काव्य झंकृत हो जाता है किन्तु काव्य में इनकी योजना के लिये कवि का सायास होना अपेक्षित नहीं है। अपेक्षा तो वहां होनी चाहिये कि कवि रस या भावना की अभिव्यञ्जना के लिये दत्तावधान हो और उसी समय रसादि के अनुकूल अलंकार बिना प्रयास के स्वयमेव वहां उपस्थित हो जाये। कवि यदि अलंकार योजना में तत्पर हो जाता है तो उसकी यह तत्परता रसाभिव्यक्ति की विघातिका अवश्य होगी। इसीलिये ध्वन्यालोककार का कहना है कि 'अपृथक् यत्न निर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः'

बिना यत्न के स्वयमेव प्रस्तुत अलंकार ध्वनिकाव्य के अनुगुण होते हैं। उदाहरण के लिये प्रस्तुत है 'निरञ्जन शतक' का पहला श्लोक -

सविनयं ह्यभिनम्य निरञ्जनम्, नतिमितं नृसुरैर्मुनिरञ्जनम्।

भवलयाय करोमि समासतः स्तुतिमिमां च मुदात्र समा सतः॥

यहां प्रथम और द्वितीय पाद के अन्त में 'निरञ्जनम् (मु) निरञ्जनम्' पद आये हैं। तीसरे और चौथे पाद के अन्त में 'समासतः समा सतः' ये दो पद आये हैं। द्वितीय पाद के अन्त में आया हुआ निरञ्जनम् यहां 'मुनिरञ्जनम्' का एक भाग है। इसी प्रकार चतुर्थ पाद के अन्त में आये हुए समासतः पद में समा और सतः ये दो पृथक् पद हैं किन्तु निरञ्जनम् का निरञ्जनम् के साथ तथा समासतः का समासतः के साथ रूप साम्य है। इस रूप साम्य के लिये कवि को कोई यत्न करना पड़ा हो, यह नहीं कहा जा सकता। कवि का शब्द भंडार अक्षय है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि यहां पदों का तुक या अन्त्यानुप्रास अपृथक्क्यत्न निर्वर्त्य है जो कविनिष्ठ देव विषयक रति की अभिव्यञ्जना में सहायक होता है। इसी प्रकार 'निरञ्जन शतक' का एक अन्य श्लोक है -

विगतरागतया स्वमहिंसया शिवमितोऽसि जगन्नहि हिंसया ।

उचितमेव सदोचित साधनं भुवि ददाति शुभं सहसाधनम् ॥ २८ ॥

कवि कह रहे हैं कि हे भगवन्! आप वीतरागता रूप अहिंसा से शिव पद को प्राप्त हैं। इसके विपरीत जगत् हिंसा रूपी सरागता के कारण शिव पद या मोक्ष को नहीं प्राप्त कर रहा है। यह उचित है कि योग्य साधन ही सदा इष्ट धन को सहसा दे देता है। यहां भी पहली पंक्ति के दोनों पादों में (अ) हिंसया हिंसया की युति तथा तीसरे चौथे पाद के साधनम् (सह) साधनम् की युति बिना आयास के स्वयमेव प्रस्तुत हो गयी है। यह काव्य की शोभा को बढ़ाते हुए कविनिष्ठ रति की उपकारिका होती है। परिणाम यह होता है कि कवि की रति की अभिव्यञ्जना के साथ यहां व्यतिरेक ध्वनि भी चर्वणा का विषय बनती है।

इसी प्रकार कला पक्ष के उदाहरण के रूप में निरञ्जनशतक के प्रत्येक श्लोक में कहीं अन्त्यानुप्रास, कहीं यमक और कहीं पर तुक की युति अवश्य है। ये सारे काव्य शोभा के आधायक, शब्द और अर्थ को अलंकृत करते हुए काव्यात्मभूत भाव (रस) के परम्परया उपकारक होते हैं। इसलिये कहा जा सकता है कि भाव और कला पक्ष का समानाधिकरण यह स्तुति काव्य एक उत्तम काव्य है।

जैन विश्वभारती, लाडनूं



## जैन गणित

# प्राकृत भाषा में निबद्ध गणितीय ग्रन्थ

डॉ. अनुपम जैन

प्राकृत जैनों की प्रिय भाषा है एवं जैनों के अधिकांश प्राचीन आगम ग्रन्थ प्राकृत की शौरसेनी एवं अर्द्धमागधी शैलियों में निबद्ध हैं। जैनाचार्यों ने ज्ञान-विज्ञान की शाखाओं में अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन किया है। अध्यात्म ग्रन्थों के सृजन के साथ ही अपने कर्म की प्रकृतियों, लोक स्वरूप जीवों की संख्या, उनकी स्थिति की विवेचना तथा चंचल प्रवृत्तियों को नियंत्रित करने, दीक्षा एवं प्रतिष्ठा हेतु शुभ मुहूर्त्त की प्राप्ति की दृष्टि से गणितीय सूत्रों/नियमों का प्रणयन भी किया। शिष्यों को विषय का सुसंगत ज्ञान देने अथवा विषय के विवेचन की श्रृंखला में प्रामाणिकता लाने के विचार से प्राकृत ग्रन्थों में गणित को स्पष्ट करने हेतु प्राकृत में भी पूर्णतः/अंशतः गणितीय ग्रन्थ लिखे गये। यद्यपि यह सत्य है कि आज एक पूर्णतः गणितीय प्राकृत ग्रन्थ समग्र रूप में उपलब्ध नहीं है तथापि उनके उद्धरण यत्र-तत्र मिलते हैं।

इस प्रकार के उद्धरणों को स्वयं में समाहित करने वाले ग्रन्थों की सूची तो काफी लम्बी बन सकती है तथापि हम यहाँ चार प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध सामग्री का विशेष रूप से संकलन कर रहे हैं—

1. उमास्वाति (150 ई.पू. - 4थी श.ई.) कृत तत्त्वार्थाधिगम सूत्रभाष्य
2. आर्यभट-1 (499ई.) कृत आर्यभटीय की भास्कर - 1 (600 ई.) कृत टीका।

3. षट्खण्डागम (1-2 श.ई.) की वीरसेन (816) ई. कृत धवला टीका

4. अनुयोगद्वार सूत्र (2-5 श. ई.) की शीलांक (862 ई.) कृत टीका

1. उमास्वाति कृत तत्त्वार्थाधिगमसूत्रभाष्य के अध्याय 3 में क्षेत्रमिति सम्बन्धी अनेक सूत्र उपलब्ध हैं। जैन परम्परा के अनुसार तत्त्वार्थसूत्र एक संकलन ग्रन्थ है। विशाल जैन वाङ्मय से मुक्ताओं का चयन कर आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र की रचना की थी। भाष्य इसी तत्त्वार्थसूत्र की उमास्वाति कृत टीका है।<sup>2</sup>

स्पष्टतः भाष्यकार के सम्मुख गणित का कोई न कोई ग्रन्थ रहा होगा जिसमें चर्चित नियम उपलब्ध होंगे। दत्त के शब्दों में-

It is note worthy that umasvati's name has come down to us as a great writer on the jaina doctrines but not as a writer on mathematics. He is not even known to have ever devoted himself to a study of this Science. Hence it will have to be concluded, that the mathematical formulae quoted in Tattvarthadhigamasutrabhasya were taken from some other treatise on mathematics known at this time.<sup>3</sup>

यहाँ हम मूल अंश तत्त्वार्थाधिगमसूत्रभाष्य से उद्धृत कर रहे हैं—

विष्कंभ- कृतेर्दशगुणायामूलं वृत्तपरिक्षेपः। स विष्कंभपादाभ्यस्तो गणितम्। इच्छावगाहो नावागाहाम्यस्तस्य विष्कंभस्य चतुर्गुणं मूलं ज्या। ज्याविष्कंभयोर्वर्गविशेषमूलं विष्कंभाच्छोर्ध्वं शेषार्धमिषुः। इषुवर्गस्य षड्गुणस्य ज्यावर्गयुतस्य कृतस्य मूलं-धनुः काष्ठम्। ज्यावर्गचतुर्भागयुक्त-मिषुवर्गमिषुविभक्तं तत्प्रकृतिविष्कंभः। उदग्धनुः काष्ठम् दक्षिणं शोध्य शेषार्धबाहुरितिः। अनेन करणाभ्युपायेन सर्वक्षेत्राणां सर्वपर्वतानामामविष्कंभज्येषु धनुः काष्ठ परिमाणानि ज्ञातव्यानि ॥<sup>4</sup>

यदि किसी वृत्त के लिए P- परिधि (वृत्त परिक्षेप), A- क्षेत्रफल, d- व्यास (विष्कंभ), c - जीवा (ज्या), h - चाप की ऊँचाई (इषु), s - चाप (धनु-काष्ठ)को व्यक्त करें तो उपर्युक्त सूत्रों को गणितीय रूप से निम्न प्रकार लिखा जा सकता है-

$$1. \quad P = \sqrt{10} d^2$$

$$2. \quad A = \sqrt{1/4} P.d.$$

$$3. \quad c = \sqrt{4h(d-h)}$$

$$4. \quad h = \sqrt{1/2(d-d^2-c^2)}$$

$$5. \quad s = \sqrt{6h d^2 + c^2}$$

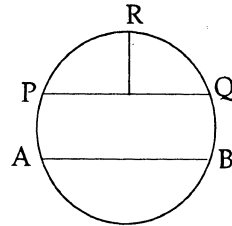
$$6. \quad d = \left( \frac{h^2 + c^2}{4} \right)$$

$$d = AB$$

$$c = P$$

$$h = RS$$

$$s = \text{चाप PRQ}$$



7. वृत्त की परिधि के दो समानान्तर रेखाओं के मध्य का भाग संगत चापों के अन्तर के आधे के बराबर होता है।

इन सभी सूत्रों के अतिरिक्त एक अन्य सूत्र उमास्वाति की ही एक अन्य कृति जम्बूद्वीप समास में मिलता है।<sup>1</sup>

$$h = \frac{s^2 - c^2}{6}$$

प्रथम चार सूत्र उमास्वाति की ही एक अन्य कृति ज्योतिषकरण्डक में भी उपलब्ध है। हरिभद्रकृत लघु संधायणी<sup>6</sup> में भी यह सामग्री मिलती है। संभवतः इन सभी में यह सब सामग्री किसी प्राचीन ग्रन्थ से ही उद्धृत है। जैनाचार्यों की उद्धरण देने की विशिष्ट शैली के आधार पर यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि यह मूल ग्रन्थ जैन ग्रन्थ होगा।

2. आर्यभट्ट की भास्कर-1कृत टीका में हमें तीन प्राकृत गाथाएँ मिलती हैं। निश्चित रूप से ये अंकगणित सम्बन्धी किसी प्राचीन ग्रन्थ से उद्धृत हैं।<sup>7</sup>

**प्रथम गाथा** - ओगाहूणं विक्कम्भ एगाहेणं संगुणं कुज्जा।

चउ गुणि अस्स तु मुउ (लं) सा जीवा सव्वखत्ताणम् ॥ (1)

**संस्कृत छाया** अवगाहीनं विष्कम्भवगाहीणं संङ्गुणं कुर्यात्।

चतुर्गुणितस्य तु मूलं सा जीवा सर्व क्षेत्राणाम् ॥

अर्थात् व्यास में से बाण (height of segment) को घटाकर इसमें बाण के चार गुणे का गुणा कर वर्गमूल लेने से वृत्तखंड की जीवा प्राप्त होती है। यदि  $c$  - जीवा,  $h$  - बाण,  $d$  - व्यास, है तो

$$c = \sqrt{4h(d-h)}$$

**द्वितीय गाथा**—इसुपाय गुणा जीवा दसि करणि भवेत् विगणितय पदम्।

धनुपट्ट अस्मिखत्ते, एवं करणं तु णाअब्बम् ॥ (2)

**संस्कृत छाया**—इषु पादगुणा जीवा दशकरणीभिर्भवेद विगुण्यफलम्।

धनुपट्टेऽस्मिन् क्षेत्रे एतत्करणं तु ज्ञातव्यम् ॥

अर्थात् जीवा में बाण के चतुर्थांश एवं 10 के वर्गमूल से गुणा करने पर वृत्तखंड का क्षेत्रफल प्राप्त होता है। यदि क्षेत्रफल  $A$  है तो

$$A = \frac{1}{4} ch \sqrt{10}$$

स्पष्टतः उपर्युक्त दोनों गाथायें जीवा की माप एवं वृत्तखंड के क्षेत्रफल से सम्बंधित हैं।

प्रथम गाथा में निहित नियम तत्त्वार्थाधिगमसूत्रभाष्य, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, जीवाभिगम-सूत्र आदि ग्रन्थों में भी मिलता है एवं दूसरा जिनभद्रगणि (529-584ई.) कृत वृहत्क्षेत्र समास में उपलब्ध है ।<sup>8</sup>

निम्नांकित तृतीय गाथा में निहित करणियों के जोड़ से सम्बन्धित नियम विशेष महत्व का है, क्योंकि यह नियम ब्रह्मगुप्त (628 ई.) कृत ब्रह्मस्फुटसिद्धान्त से पूर्ववर्ती किसी अन्य ग्रन्थ में नहीं मिलता है।

तृतीय गाथा - आवेट्टि अदस्सेकेण इ मूल समासस्समोत्थवत् ।

आवेट्टणाय गुणियं करणिसमासं तु णाअव्वम् ॥ (3)

संस्कृत छाया—अपवर्त्य च दशैके हि मूल समासः समोत्थं यत् ।

अपवर्तङ्गकगुणितं करणि समासं तु ज्ञातव्यम् ॥

अर्थात् (दी गई करणियों को) किसी समुचित संख्या जिससे करणी पूर्णांक में बदल जाये, से विभाजित कर वर्गमूल लेकर जोड़ने के सामान्य नियमानुसार जोड़ा। पुनः इस योग को विभाजक से गुणा करने पर प्राप्त फल को करणियों का योग माना जाना चाहिये।

$$\text{उदाहरणार्थ } \sqrt{A} + \sqrt{B} = \sqrt{C} \left\{ \frac{\sqrt{A}}{\sqrt{C}} + \frac{\sqrt{B}}{\sqrt{C}} \right\}$$

अथवा संख्यात्मक रूप में

$$\begin{aligned} \sqrt{90} + \sqrt{160} &= \sqrt{10} \left\{ \frac{\sqrt{90}}{\sqrt{10}} + \frac{\sqrt{160}}{\sqrt{10}} \right\} \\ &= \sqrt{10} \left\{ \sqrt{9} + \sqrt{16} \right\} \\ &= \sqrt{10} (3 + 4) \\ &= \sqrt{10} (7) \\ &= \sqrt{490} \end{aligned}$$

उपरोक्त तीनों गाथार्यें इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि सूर्य-प्रज्ञप्ति आदि गणित-ज्योतिष के प्राकृत ग्रन्थों के समान ही अंकगणित का भी प्राकृत विषयक कोई ग्रन्थ था। प्राकृत जैन-धर्म ग्रन्थों की भाषा है एवं इस भाषा में जैनेतर साहित्य बहुत कम हैं। अतः प्राकृत भाषा की यह कृति भी किसी जैनाचार्य की ही कृति होगी, इसकी ही अधिक संभावना है। दत्त के शब्दों में—

As Prakṛta is the sacred language of Jainas that work (above mentioned) must have been of Jaina authorship.<sup>9</sup>

3. प्राचीन गणित ग्रन्थों के उद्धरणों का तीसरा मुख्य स्रोत धवला टीका (816 ई.) है। मूल ग्रन्थ षट्खंडागम के सूत्रों में भी एक से लगाकर सौ, हजार, दस हजार, लाख, करोड़, कोड़ा-कोड़ी व कोड़ाकोड़ाकोड़ाकोड़ी तक की संख्या, संख्यात, असंख्यात, अनन्त व अनन्तानन्त के नाम, जोड़, बाकी, गुणा, वर्ग व वर्गमूल, धन आदि की गणितीय प्रक्रियाएँ, अंगुल, योजन, श्रेणी, विष्कम्भ, सूची, प्रतर व धन आदि क्षेत्र सम्बन्धी माप उल्लिखित हैं, जो यह व्यक्त करते हैं कि प्रथम शताब्दी के आचार्य पुष्पदन्त एवं भूतबलि को गणितशास्त्र का यथेष्ट ज्ञान था।

धवला टीका में कम से कम तीन प्राचीन गणित के उद्धरण मिलते हैं—

(क) संस्कृत भाषा में निबद्ध पद्यमय ग्रन्थ

(ख) प्राकृत गाथामय ग्रन्थ

(ग) प्राकृत गद्य ग्रन्थ, परियम्मसुत्तं (परिकर्म सूत्र)

(क) धवला के अन्तर्गत क्षेत्र प्ररूपणा एवं स्पर्शन प्ररूपणा में एक आर्या का उल्लेख क्रमशः एक-एक बार आया है। संस्कृत के आर्या छंद में निबद्ध इस श्लोक में व्यास से परिधि निकालने का नियम दिया गया है। जो निम्नवत् है—

व्यास षोडशगुणितं षोडश सहितं त्रिरूपरूपैर्भक्तम्।

व्यास त्रिगुणित सहितं सूक्ष्मादपि तदभवेत्सूक्ष्मम् ॥<sup>१०</sup>

व्यास को 16 से गुणा करके उसमें 16 जोड़कर 113 से भाग देने एवं पुनः उसमें व्यास का तीन गुणा जोड़ने पर परिधि का सूक्ष्मतम मान प्राप्त होता है।

बीजीय रूप से यदि D=व्यास हो एवं C=परिधि हो तो

$$c = \frac{16d+16}{113} + 3d$$

इस पूर्ण आर्या के अतिरिक्त अनेक आर्याखंड भी यत्र-तत्र मिलते हैं। दाशमिक स्थान मान पद्धति को व्यक्त करने वाली अन्य अनेक प्राकृत गाथायें द्रव्यप्रमाणानुगम में मिलती हैं। कतिपय आर्याखंड निम्न हैं—

रूपेषु गुणमर्थेषु वर्गणम् ॥<sup>11</sup>

रूपोनमादिसंगुणमेकोनगुणोन्मथितमिच्छा ॥<sup>12</sup>

व्यासार्धकृतित्रिक समस्तफलितम् ॥<sup>13</sup>

ये सभी आर्यायें, आर्याखंड एवं सूत्र किसी एक ही ग्रन्थ से उद्धृत हैं या भिन्न-भिन्न, यह निश्चय पूर्वक कहना संभव नहीं है, तथापि संभावना इस बात की है कि ये सभी किसी



पद्यात्मक संस्कृत भाषा निबद्ध गणित ग्रन्थ से उद्धृत हैं। प्राचीन जैनाचार्यों की प्रमाण रूप में जैन ग्रन्थों से उद्धरण देने की परम्परा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्राचीन काल में कम से कम एक संस्कृत भाषा का पद्यमय गणित ग्रन्थ अवश्य था, जो वर्तमान में उपलब्ध नहीं है।

(ख) प्राकृत गाथाओं के गणित सम्बन्धी उद्धरण भी इसी धवला टीका के द्रव्यप्रमाणानुगम एवं क्षेत्रप्ररूपणा के प्रकरणों में मिलते हैं। गणित संबंधी ये गाथायें 'एत्थ उवज्जंतीओगाहाओ' एवं 'एत्थ करणगाहा वृत्तंच' आदि उत्थानिका वाक्य देकर उद्धृत की गयी हैं।

इस टीका में करणानुयोग से सम्बन्धित खगोलीय नियमों को स्पष्ट करने वाली गाथायें तो बहुत हैं किन्तु हम यहां शुद्ध गणित शास्त्र संबंधी कतिपय गाथाओं को उद्धृत कर रहे हैं। द्रव्यप्रमाणानुगम में हमें कुछ गाथायें मिलती हैं जिनमें भाज्य, भाजक एवं भिन्नो के हानिवृद्धि रूप नियम दिये गये हैं। गाथायें निम्नलिखित हैं—

अवहार वडिढरूवाणवहारारो हु लद्धअवहारो ।  
रूबहिओ हाणिए होदि हु बड्डीए विवरीदो ॥  
अवहार विसेसण य छिण्वहारारु लद्धरूवा जे ।  
रूवाहियाउणा वि य अवहारो हाणिबड्डीणं ॥  
लद्धविसेसच्छिण्णं लद्धं रूवाहिऊणयं चावि ।  
अवहार हाणि वाडखडोणवहारो सो मुणेयव्वो ॥  
लद्धंतर सगुणिदे अवहारे भज्जमाणारासिम्हि ।  
पविकखत्ते उप्पज्जड लद्धस्सहियस्स हो रासी ॥  
हारान्तर हत हाराल्लब्धेन हतस्य पूर्व लब्धस्य ।  
हाराहत भोज्यशेषः स चान्तरं हानिवृद्धि स्तः ॥  
अवणयणारासिगुणिदो अवरारयेगुणएण लद्धेण ।  
भजिदो हू भागहारो पंक्खेवो होदि अवहारे ॥  
पक्खेवरासि गुरिदो पक्खेणाहि एण लद्धेन ।  
भजिओ हु भागहारो अवणेज्जो होइ अवहारे ॥  
जे अहिया अवहारे रूवा तेहि गणित्तु पुव्वफलं ।  
अहियवहारेण हि ए लद्ध पुव्वफलं ऊणं ॥  
जे ऊणा अवहारे रूवा तेहिं गुणित्तु पुव्वफलं ।  
उण वहारेण हि ए लद्धं पुव्वफलं अहियं ॥<sup>14</sup>

इसके अतिरिक्त, 'रसि विसेसेण वहिदं'<sup>15</sup> एवं 'विकखम्मा इस गुणं करणी'<sup>16</sup> आदि गाथायें क्रमशः द्रव्यप्रमाणानुगम एवं स्पर्शन प्ररूपणा में मिलती हैं। उपर्युक्त गाथाओं का मूल

स्रोत कोई प्राकृत गाथामय गणित ग्रन्थ धवलाकार के सम्मुख रहा होगा। पूर्व में दिये गये तर्कों के अनुरूप ही यह प्राकृत भाषा की कृति भी किसी जैनाचार्य की ही देन होगी। वर्तमान में इस ग्रन्थ का कुछ भी पता नहीं है।

(ग) धवला में गणित शास्त्र सम्बन्धी उल्लेखों का तीसरा आधारभूत ग्रन्थ **परियम्म सुत्तं** है। यह प्राकृत गद्यमय ग्रन्थ था। इस ग्रन्थ का उल्लेख द्रव्यप्रमाणानुगम (पु-3) एवं क्षेत्रप्ररूपणा (पु-4) में लगभग 20 बार आया है। संख्यात, असंख्यात, अनन्त आदि के स्वरूप, जीव राशि के प्रमाण, द्वीप सागर गणना, स्वर्ग एवं नरक में जीवराशि के प्रमाण, रज्जु, जगश्रेणी व लोक के प्रमाण आदि से सम्बन्ध रखने वाले अवतरण इस ग्रन्थ से उद्धृत किये गये हैं। उद्धरण देने की शैली से स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ गणित एवं करणानुयोग विषयक प्रामाणिक ग्रन्थ था। वर्तमान में इस नाम के किसी ग्रन्थ का कोई पता नहीं चलता है। प्राचीन काल में कुन्दकुन्द आचार्य ने षट्खंडागम के प्रथम तीन खंडों पर परिकर्म नामक टीका लिखी है। गणित में परिकर्म का अर्थ गणितीय प्रक्रिया होता है। डॉ. हीरालाल जैन के विचार से परिकर्म नाम का गणित संबंधी कोई प्राचीन गद्यात्मक ग्रन्थ था, जो षट्खंडागम से भी सम्बन्ध रखता था या इसके गणितीय भाग का विशदीकरण रूप था। उनका यह अनुमान तर्कसंगत प्रतीत होता है।

4. प्राचीन गणित विषयक ग्रन्थ के उद्धरणों का चतुर्थ मुख्य स्रोत प्रसिद्ध जैनाचार्य (श्वे.) शीलांक (862 ई.) का टीका साहित्य है। शीलांक ने भंग (Combination & Permutation) से सम्बद्ध दो संस्कृत एवं एक अर्द्धमागधी की गाथा किन्हीं प्राचीन ग्रन्थों से उद्धृत की हैं। ये गाथायें निम्नवत् हैं —

संस्कृत : एकाद्या गच्छपर्यन्ताः परस्परसमाहता ।  
राशयस्तादि विज्ञेयं विकल्पगणितक फलम् ॥ (1)

गणितअत्यविवक्ते तु लब्धशेषविभाजयेत् ।  
आदावन्ते च तत् स्थाप्यं विकल्पगणिते क्रमात् ॥ (2)

अर्द्धमागधी : पुव्वापुव्वि हेट्ठा समयमेण कुज्जहाजेट्ठं ।  
उवरिमतुल्लं पुर ओनसेज्ज पुव्वाकर्मो सेसे ॥ (3)

स्पष्टतः ये गाथायें गणित विषयक किसी प्राचीन संस्कृत एवं अर्द्धमागधी ग्रन्थ से उद्धृत हैं। अब तक अर्द्धमागधी भाषा में रचित गणित का एक भी ग्रन्थ प्रकाश में नहीं आया है, अतः यह उद्धरण विशेष महत्त्व का है, जो यह सुनिश्चित करता है कि प्राचीन काल में अर्द्धमागधी भाषा में भी गणितीय ग्रन्थ रचे गये थे। अर्द्धमागधी (प्राकृत) श्वेताम्बर परम्परा तुलसी प्रज्ञा जुलाई—सितम्बर, 1999 41

के जैन साहित्य की प्रतिनिधि भाषा है एवं विपुल परिमाण में अंग एवं अंगबाह्य तथा टीका साहित्य का निर्माण इसी भाषा में हुआ है, अतः यह अर्द्धमागधी गणित ग्रन्थ भी जैन कृति ही होना चाहिए। यह भी संभव है कि प्राचीन जैन अर्द्धमागधी ग्रन्थ का कुछ अंश गणित से सम्बन्धित हो।

अभयदेवसूरि (10वीं शताब्दी ई.) ने भी अपने टीका साहित्य में गणित विषयक प्राकृत गाथायें उद्धृत की हैं। दत्त के शब्दों में—

In attempting to explain Yavat tavat he (Abhaydev Suri) has quoted a verse written in Prakṛta and obscure mathematical principal which can not be traced to any another verse containing an known work.<sup>17</sup>

इस विवेचन से स्पष्ट है कि प्राचीन काल में गणित विषयक अनेक ग्रन्थ संस्कृत, प्राकृत भाषा में उपलब्ध थे, किन्तु वे आज उपलब्ध नहीं हैं। संभव है कि वे किसी अज्ञात स्थान पर बड़े शोधकों की बाट जोह रहे थे। इनकी खोज भारतीय गणित की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपलब्धि होगी। अन्तर्बाह्य साक्ष्यों से स्पष्ट है कि इनमें अधिकांश कृतियाँ जैन थीं। यह लिखने का तात्पर्य यह है कि इन ग्रन्थों के प्राचीन भंडारों में प्राप्त होने की अपेक्षाकृत अधिक संभावना है। प्राकृत विद्वानों से मेरा यह आग्रह है कि इन अनुपलब्ध ग्रन्थों की खोज, संरक्षण, सम्पादन में अपना मार्गदर्शन दें, तभी इस अमूल्य सम्पदा, यदि शेष है, को सुरक्षित रखा जा सकेगा।

## आभार

लेखक एतद् विषयक सूचनाओं को उपलब्ध कराने हेतु प्रो. लक्ष्मीचन्द्र जैन (जबलपुर) एवं मार्गदर्शन हेतु प्रो. सुरेशचन्द्र अग्रवाल (मेरठ) का आभारी है।

## सन्दर्भ

1. श्वेताम्बर परम्परा उमास्वाति का काल 160 ई.पू. एवं दिगम्बर परम्परा उमास्वामी का काल 150 ई. मानती है।
2. श्वेताम्बर परम्परा में सूत्रकार एवं टीकाकार दोनों को एक ही माना जाता है अर्थात् सूत्रकार एवं भाष्यकार दोनों उमास्वाति हैं, किन्तु दिगम्बर परम्परा के अनुसार सूत्रकार उमास्वामी (150 ई.) आचार्य कुन्दकुन्द के उत्तरवर्ती थे एवं भाष्यकार कोई परवर्ती इतर व्यक्ति उमास्वाति थे।
3. B.B. Dutt, The Jaina School of Mathematics, B.C.M.S. (Calcutta), 29, 1929, 115-143
4. तत्त्वार्थाधिगमसूत्रभाष्य, सं.-हीरालाल रसिकलाल कापड़िया, गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज, बड़ौदा (गुजरात), अध्याय-3, सूत्र 11 अथवा रत्नत्रय आराधक संघ, नवसारी, पृ. 63
5. जम्बूद्वीपसमास, तत्त्वार्थाधिगमसूत्रभाष्य का परिशिष्ट।

6. लघुसंघायणी, गाथा 180-184.
7. आर्यभटीय (भाष्कर-1 कृत टीका सहित). पृ. 73-74.
8. बृहत्क्षेत्रसमास, 1, 122
9. Dutt, B.B. A Lost Jaina Treatise on Arithmetic, The Jain Antiquary (Arrah), 1 (2), 1935.
10. षट्खंडागम-धवला टीका सहित, टीकाकार-आचार्य वीरसेन, संपादन-पं. फूलचन्द्र शास्त्री, द्वितीय संस्करण, 1993, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, पु. 4, क्षेत्रप्ररूपणा, पद 14, पृ. 42, स्पर्शन प्ररूपणा, 9, पृ. 2211.
11. धवला पुस्तक, 4, क्षेत्रप्ररूपणा, पद 14 एवं अन्य भी अनेक स्थल।
12. वही, पृ. 198 एवं 200
13. वही पृ. 169
14. धवला, पु-3, द्रव्यप्रमाणानुगम, गाथा-24-32, पृ. 46-49
15. वही, पृ. 342
16. धवला, पुस्तक 6, स्पर्शन प्ररूपणा, पृ. 209
17. B.B. Dutt, The Jaina School of Mathematics, B.C.M.S. (Calcutta), 29, 1929, 115-143

सचिव—कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ  
584 महात्मा गांधी मार्ग  
तुकोगंज, इन्दौर-452001



## तत्त्व-मीमांसा

# जैन धर्म-दर्शन में प्रतिपादित 'जीव तत्त्व'

✍ कुमार अनेकान्त जैन

सम्पूर्ण जैन वाङ्मय को विषय की दृष्टि से चार अनुयोगों में विभक्त किया गया है—१. प्रथमानुयोग—इसके अन्तर्गत महापुरुषों के चरित्र से सम्बन्धित ग्रन्थ और पुराण कथा आदि साहित्य आता है। २. करणानुयोग— इसमें लोक-अलोक का विभाग, चार गतियों का स्वरूप आदि का प्रतिपादन करने वाला भूगोल एवं गणित विषयक ग्रन्थ सम्मिलित हैं। ३. चरणानुयोग—इसमें श्रमण एवं श्रावक धर्म (आचार) के प्रतिपादक ग्रन्थ सम्मिलित हैं तथा ४. द्रव्यानुयोग — इसके अन्तर्गत जीव-अजीव आदि तत्त्वों, जीव, पुद्गल आदि छः द्रव्यों आदि विषयों का प्रतिपादन करने वाले तत्त्वज्ञान दार्शनिक एवं आध्यात्मिक ग्रन्थों का समावेश है। जैनधर्म-दर्शन में 'जीव' तत्त्व का प्रतिपादन इसी अनुयोग के अन्तर्गत किया गया है। अन्तिम तीर्थंकर महावीर के समय अनेक दार्शनिक मत विद्यमान थे, जिनका उल्लेख जैन और बौद्ध साहित्य में मिलता है। उस समय जहां यज्ञों से अभीष्ट सिद्धि मानने वाले वैदिक थे, तो श्रमणों में भी पूरण कश्यप जैसे अक्रियावादी थे। किसी क्रिया से पुण्य या पाप होता है, यह उन्हें मान्य नहीं था। मक्खलि गोशाल जैसे नियतिवादी भी थे। इनकी मान्यता थी कि संसारचक्र के निश्चित परिभ्रमण से ही जीव शुद्ध होता है—उस भ्रमण में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। अजित केशकंवली जैसे

उच्छेदवादी भी थे, जो जीव को चार महाभूतों से बना हुआ मानते थे तथा मरण के बाद जीव का अस्तित्व अस्वीकृत करते थे।

संजयबेलट्टिपुत्र जैसे विक्षेपवादी भी उस समय विद्यमान थे, जो प्रत्येक प्रश्न का उत्तर नकारात्मक देते थे अर्थात् परलोक है— ऐसा नहीं मानते और परलोक नहीं है—ऐसा भी नहीं मानते। अन्योन्यवादी प्रकुध कात्यायन भी उस समय थे, जो जीव, सुख-दुःख तथा चार महाभूत—इन सात पदार्थों को सर्वदा नित्य मानते थे। उनकी यह भी मान्यता थी कि इन्हीं के परस्पर संपर्क से सब कार्य होते हैं। उस समय मध्यममार्गी भगवान् बुद्ध भी थे, जो चार आर्यसत्य<sup>1</sup> का ज्ञान आवश्यक मानते थे। साथ ही तृष्णा के निरोध के लिए सम्यक् दृष्टि आदि आठ अंगों का मार्ग (अष्टांगिक मार्ग)<sup>2</sup> आवश्यक मानते थे। किन्तु लोक शाश्वत है या नहीं? आदि कई प्रश्नों को 'अव्याकरणीय' (चर्चा के योग्य नहीं) भी मानते थे।

जैन आगमों में तीर्थंकर महावीर के जो वचन मिलते हैं, उनसे यह स्पष्ट है कि इन विविध वादों के विषय में उनके निश्चित विचार थे तथा वे उन विचारों का युक्तिपूर्वक प्रतिपादन करते थे। वे किसी प्रश्न को अव्याकरणीय नहीं मानते थे और द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव के अनुसार प्रत्येक प्रश्न का उत्तर देते थे। उनके उत्तर नकारात्मक नहीं अपितु विधिरूप थे। वे नियतिवादी अथवा क्रियावादी नहीं थे। उनके अनुसार जीव अपने कर्मों का फल भोगता है<sup>3</sup> तथा स्वयं के प्रयत्न द्वारा ही कर्मों से मुक्त होकर परमात्मा बन सकता है।

जैन धर्म-दर्शन में आत्मा के अस्तित्व को मात्र सिद्ध ही नहीं किया गया है अपितु इसके सम्बन्ध में जितना स्पष्टतः और विस्तार विश्लेषण यहां उपलब्ध है उतना शायद ही अन्यत्र देखने को मिले। बुद्ध ने जिन प्रश्नों को अव्याकृत कहकर टाल दिया था, उन्हीं प्रश्नों का समाधान भी तीर्थंकर महावीर के प्रवचनों में स्पष्टता से प्राप्त हो जाता है। यहां आत्मा को शाश्वत मौलिक द्रव्य माना गया है। आत्मा और परलोक, पूर्वजन्म और पुनर्जन्म का यहाँ प्रबल समर्थन किया गया है। तीर्थंकर महावीर का युग ही आत्मविद्या और परलोक विद्या की जिज्ञासाओं का युग था। उस समय आत्मा है या नहीं? परलोक है या नहीं? जिन या तथागत होंगे या नहीं? ऐसे प्रश्न पूछे जाते थे और इन सभी प्रश्नों का उत्तर महावीर देते थे। साहित्य में शताधिक बार ये विषय चर्चित हुए हैं।

आचारांग, जो कि अर्धमागधी प्राकृत अंग आगमों का प्रथम अंग ग्रन्थ है, इसका प्रारम्भ ही आत्म जिज्ञासा से होता है। वहाँ पर कहा गया है—अनेक व्यक्ति यह नहीं जानते कि मैं कहाँ से आया हूँ? मेरा भवान्तर होगा या नहीं? मैं कौन हूँ? यहाँ से कहाँ जाऊँगा? इन सबके विषय में कोई पूर्वजन्म की स्मृति, प्रत्यक्षज्ञानी के निरूपण अथवा अन्य के पास सुनकर यह जान लेता

है कि मैं कहाँ से आया हूँ? इसी तरह कुछ को यह ज्ञात होता है कि मेरी आत्मा पुनर्जन्म लेने वाली है, जो इन दिशाओं और अनुदिशाओं में अनुसंचरण करती है, जो सब दिशाओं और अनुदिशाओं से आकर संचरण या अनुसंचरण करता है, वह मैं हूँ और जो इस अनुसंचरण को जान लेता है वही आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी और क्रियावादी है।<sup>१</sup>

इस तरह 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' जैसे वेदान्त का मूलमन्त्र है, उसी तरह 'अथातो आत्मजिज्ञासा' जैन धर्म-दर्शन का मूल सूत्र है। इसीलिए जैन धर्म-दर्शन में मोक्ष को जीवन का चरम लक्ष्य माना गया है। इसकी प्राप्ति का मार्ग रत्नत्रय अर्थात् सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चरित्र<sup>२</sup> माना गया है। इनमें तत्त्वार्थ के श्रद्धान को सम्यक् दर्शन कहते हैं<sup>३</sup> जो आध्यात्मिक विकास का प्रथम सोपान है।

जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष<sup>४</sup>—इन सात तत्त्वों में सर्व प्रधान 'जीव' तत्त्व है। आध्यात्मिक उत्कर्ष के इच्छुक प्रत्येक प्राणी को इन तत्त्वों का ज्ञान आवश्यक है, क्योंकि जिसको जीवों का ज्ञान नहीं होता, उसे उनके अस्तित्व में भी विश्वास (श्रद्धा) नहीं होता। तब वह प्राणी जीवन-व्यवहार में उनके प्रति संयमी, अहिंसक अथवा चारित्रवान कैसे हो सकता है? कहा भी है कि जो जीव को नहीं जानता, जीव और अजीव दोनों को नहीं जानता, वह संयम को कैसे जानेगा? तीर्थंकर महावीर ने जिस अहिंसात्मक आचार का निरूपण किया उसका आधार आत्मा है। आत्मा और जीव पर्यायवाची शब्द है। स्पष्ट बोध होने पर ही अहिंसात्मक आचार में आस्था हो सकती है।

मूलतः दो तत्त्व हैं—जीव और अजीव। जीव चेतना स्वरूप है। चेतना ज्ञान-दर्शन रूप होती है। इसी कारण जीव अन्य द्रव्यों से व्यावृत्त होता है। जिसमें चेतना न पाई जाए वह 'अजीव' है। इन दो तत्त्वों का सम्बन्ध जिस कारण से होता है वह 'आश्रव' कहलाता है अर्थात् पुण्य और पाप रूप कर्मों के आगमन के द्वार को 'आश्रव' कहते हैं। जीव और अजीव का सम्बन्ध हो जाना अर्थात् आत्मा और कर्म के प्रदेशों का मिल जाना 'बन्ध' है। नवीन कर्मों के आगमन को रोकना 'संवर' है। पूर्वबद्ध कर्मसमूह के एक देश क्षय को 'निर्जरा' कहते हैं और सब कर्मों का आत्मा से अलग हो जाना अर्थात् कर्म-समूह के सर्वदेश क्षय को 'मोक्ष' कहते हैं। इस प्रकार इन सात तत्त्वों का जैन धर्म-दर्शन में प्रमुखता से प्रतिपादन है।

जीव, अजीव तत्त्वों के ज्ञान से सब जीवों की बहुविध गतियों की भी जानकारी हो जाती है। इसके बाद पुण्य, पाप, बन्ध और मोक्ष को भी जाना जा सकता है। इन सबके ज्ञान से देवों और मनुष्यों के जो भी भोग हैं, उनसे विरक्त हो जाता है। इनकी विरक्ति से बाह्य और आभ्यन्तर संयोगों का त्याग सहजतया हो जाता है। इसके बाद वह मनुष्य अनगार धर्म स्वीकार कर उत्कृष्ट संवरात्मक अनुत्तर धर्म का स्पर्श कर लेता है और अबोधिरूप पाप द्वारा संचित

कर्म-रज को प्रकम्पित करके सर्वत्रगामी केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर लेता है।<sup>१९</sup>

‘तस्य भावस्तत्त्वं’ — इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो पदार्थ जिस रूप से है उसका उसी रूप होना—‘तत्त्व’ अर्थात् पदार्थ का जो यथार्थ स्वरूप है वह तत्त्व कहलाता है। जीव का यथार्थ रूप जीव तत्त्व है, अजीव का यथार्थ रूप अजीव तत्त्व है।

उपर्युक्त सात तत्त्वों में पुण्य और पाप को मिलाकर ‘नव पदार्थ’ कहे जाते हैं। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल—ये जैन दर्शन में छह द्रव्य कहलाते हैं। इनमें काल द्रव्य को छोड़कर शेष पाँच द्रव्य ‘अस्तिकाय’ हैं। क्योंकि रत्नों की राशि की तरह प्रत्येक कालद्रव्य एक-एक प्रदेश का धारक है। इस कारण अविभावी पुद्गल परमाणु के समान इसे भी अप्रदेशी माना जाता है। अतः कायत्व न होने से छह द्रव्यों में इसे छोड़, शेष पांच द्रव्य अस्तिकाय हैं। कालद्रव्य परमाणु की तरह एक प्रदेशी है। साथ ही अनागत काल की उत्पत्ति नहीं हुई तथा उत्पन्न काल का विनाश हो जाता है, अतः प्रदेशों का प्रचय नहीं होने से काल अस्तिकाय नहीं है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि सभी तत्त्वों में जीव ही प्रधान तत्त्व है। ‘चेतना लक्षणो जीवः’ अर्थात् चेतना जीव का लक्षण है। यह चेतना ज्ञान-दर्शन रूप होती है। यद्यपि ज्ञान-दर्शन स्वभावी होने के कारण वह जीव आत्मा ही है फिर भी संसारी दशा में प्राण धारण करने से ‘जीव’ कहलाता है। आचार्य जिनसेन ने महापुराण में जीव के पर्यायवाची नामों का उल्लेख करते हुए कहा है—

जीवः प्राणी च जन्तुश्च क्षेत्रज्ञः पुरुषस्तथा।

पुमानात्मा अन्तरात्मा च ज्ञो ज्ञानीत्यस्य पर्ययः ॥ महापुराण २४/१०३।

जीव, प्राणी, जन्तु, क्षेत्रज्ञ, पुरुष, पुमान्, आत्मा, अन्तरात्मा, ज्ञ और ज्ञानी—ये सब जीव के पर्यायवाची हैं। जैन दर्शन में सामान्यतया आत्मा और जीव पर्यायवाची माने जाते हैं। किन्तु विशेष दृष्टि से (समभिरूढ नयानुसार) कोई भी शब्द दूसरे शब्द का पर्यायवाची नहीं होता। इस दृष्टि से आत्मा और जीव में ‘अर्थ-भेद’ भी है। आत्मा का अर्थ है—अपने चैतन्य आदि गुणों और पर्यायों में सतत् परिणमन करने वाला चेतन तत्त्व<sup>२०</sup> और जीव का अर्थ है—शरीर और आयुष्य को धारण करने वाला चेतन तत्त्व।<sup>२१</sup>

आत्मा है, वह नित्यानित्य है, वह कर्ता और भोक्ता है। आत्मा अपने स्वरूप में अमूर्त है। वह इन्द्रियों के द्वारा नहीं जाना जा सकता। वह शरीर के माध्यम से ही जाना जाता है। जैसे आत्मा का अस्तित्व है, वैसे लोक का अस्तित्व है। आत्मा और लोक दोनों पारमार्थिक सत्तार्ये हैं।

भगवती सूत्र में कहा है “जीवो अणाई अनिधनो अविणासी अक्खओ<sup>२२</sup> धुओ णिच्चं”



अर्थात् आत्मा अनादि, अनिधन, अविनाशी, अक्षय, ध्रुव और नित्य है। कोई रूप नहीं, रस नहीं, गंध नहीं, स्पर्श नहीं और वह इन्द्रियों से भी अग्राह्य है। जीव तत्त्व जिसे आत्मा भी कहा गया है, उसे एक स्वतन्त्र मौलिक तत्त्व माना है। आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास—इन चार प्राणों से जो जीता है, जीयेगा तथा पहले जीवित था, वह जीव है।<sup>१२</sup> उमास्वामी आचार्य ने 'उपयोग' को जीव का लक्षण कहा है।<sup>१३</sup> उपयोग का अर्थ है— 'ज्ञान-दर्शन' रूप चैतन्य परिणति। इस दृष्टि से चेतना-ज्ञान और दर्शन के भेद से दो प्रकार की है। विशेष रूप से पदार्थ को जानना ज्ञान चेतना है और निर्विकल्प—सामान्य रूप से पदार्थ को जानना दर्शन चेतना है। इसी द्विविध चेतना से सम्बन्ध रखने वाले जीव के परिणमन को 'उपयोग' कहते हैं। इस तरह जानना-देखना ही जीव का स्वरूप है। सिद्धान्तिदेव नेमिचन्द्राचार्य के अनुसार भी—

*तिक्काले चदुपाणा इन्द्रियबलमाउ आणपाणो य।*

*ववहारा सो जीवो णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स ॥ (द्रव्यसंग्रह. गाथा, ३.)*

व्यवहार से तीन काल में इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासिनःश्वास—इन चार प्राणों को धारण करने वाला जीव है और निश्चयनय से जिसके चेतना है वही जीव है। यही चैतन्य 'जीव' का असाधारण (विशिष्ट) गुण है, जिससे यह अन्य समस्त जड़ द्रव्यों से अपना पृथक् अस्तित्व रखता है।

यह जीव (आत्मा) अमूर्तिक है। स्व-शरीर में स्थित जीव का बोध स्वसंवेदन ज्ञान से होता है। "मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैंने यह कार्य किया और यह करना है"—इत्यादि रूप जो 'मैं' का अनुभव होता है, वही जीव है तथा दूसरे के शरीर में जीव के अस्तित्व का अनुभव उसकी चेष्टाओं से होता है।

जीव स्वभावतः अमूर्तिक है। उसमें रूप, रस, गंध और स्पर्श—ये चार पुद्गल के धर्म नहीं पाये जाते। फिर भी प्रदेशों में संकोच और विस्तार होने से वह अपने छोटे-बड़े शरीर के परिमाण हो जाता है। इसलिए जैन-दर्शन में आत्मा को अन्य दर्शनों की तरह विभु, अणु, या अंगुष्ठमात्र न मानकर 'शरीर परिमाण' ही माना है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने जीव के अनेक गुणों का उल्लेख किया है। जैसे—जीव चेतनामय, उपयोग से विशिष्ट, प्रभु, कर्ता, भोक्ता, स्वदेहमात्र, अमूर्तिक और कर्मसंयुक्त है।<sup>१४</sup> भावपाहुड में भी जीव को कर्ता, भोक्ता, अमूर्तिक, शरीरप्रमाण, अनादिनिधन, दर्शन-ज्ञान उपयोगमयी प्रतिपादित किया है।<sup>१५</sup> इस गाथा की संस्कृत टीका में श्रुतसागरसूरि ने व्यवहार और निश्चयनय से जीव (आत्मा) के इन विशेषणों का कथन इस प्रकार किया है—**१ कर्ता, २ भोक्ता—**

व्यवहार नय से जीव पुण्य-पाप का कर्ता तथा पुण्य -पाप के फल का भोक्ता है, जबकि निश्चयनय से केवलज्ञान और केवलदर्शन का कर्ता तथा अनन्त सुख और अनन्त वीर्य का भोक्ता है। ३ अमूर्त— निश्चयनय से शरीर रहित होने के कारण वह अमूर्त है, जबकि व्यवहारनय से कर्मबंध तथा शरीर से संयुक्त होने के कारण मूर्त है। ४. शरीर प्रमाण—व्यवहारनय की अपेक्षा आत्मा शरीर सम्बन्धी सुख दुःख आदि का वेदन करता है, इसलिए शरीर प्रमाण है तथा निश्चयनय से असंख्यात प्रदेशी होने से लोकप्रमाण है। ५. अनादिनिधन—यह जीव द्रव्य दृष्टि से अनादि अनन्त है जबकि पर्याय दृष्टि से सादि सान्त है। ६-७. दर्शन-ज्ञान युक्त—व्यवहार नय की अपेक्षा चार प्रकार के दर्शनोपयोग और आठ प्रकार के ज्ञानोपयोग से सहित है जबकि निश्चय नय की अपेक्षा केवलज्ञान और केवलदर्शन—इन दो उपयोग सहित है तथा परम निश्चय नयापेक्षा तन्मय होने के कारण आत्मा केवलज्ञान रूप ही है। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव ने भी कहा है—

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो ।

भोक्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्डुगई ॥ द्रव्यसंग्रह. गाथा-२

अर्थात् जो जीता है वह जीव उपयोग रूप है, अमूर्तिक है, कर्ता है, स्वदेहपरिमाण है, भोक्ता है, संसारी है, सिद्ध है और स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है।

उपर्युक्त प्राकृत गाथा की संस्कृत टीका में ब्रह्मदेव का कथन है कि जीव के ये नौ विशेषण विभिन्न दार्शनिक मतों को लक्ष्य करके भी कहे गये हैं। यहां चार्वाक के लिए जीव की सिद्धि की गई है। नैयायिक के लिए जीव का ज्ञान दर्शन रूप उपयोग लक्षण कहा है। भट्ट तथा चार्वाक के प्रति जीव का अमूर्त स्थापन है। आत्मा कर्म का कर्ता है—यह कथन सांख्य के प्रति है। आत्मा अपने शरीर प्रमाण है—यह कथन नैयायिक, मीमांसक और सांख्य—इन तीनों दार्शनिक मतों के प्रति है। आत्मा कर्मों का भोक्ता है—यह कथन बौद्ध के प्रति है। आत्मा संसारस्थ है—ऐसा वर्णन सदाशिव के लिए है। आत्मा सिद्ध है—यह कथन भट्ट और चार्वाक के प्रति है। जीव का ऊर्ध्वगमन स्वभाव है—यह कथन मण्डलीक मतानुयायी के लिए है।

**जीव के पर्यायवाची नाम**

षट्खण्डागम की आचार्य वीरसेन कृत धवलाटीका में आत्मप्रवाद नामक पूर्व आगम ग्रन्थ की विषयवस्तु का उल्लेख करते हुए जीव के निम्नलिखित पर्यायवाची शब्द कहे हैं<sup>१६</sup>—

जीवो कत्ता य वत्ता य पाणी भोक्ता य पोग्गलो ।

वेदो विण्हू सयंभू य सरीरी तह माणवो ॥

सत्ता जंतू य माणी य माई जोगी य संकडो ।

असंकडो य खेतण्हू अंतरप्पा तहेव य ॥

अर्थात् जीव कर्ता, वक्ता, प्राणी, भोक्ता, पुद्गल छह प्रकार के संस्थान और अनेक प्रकार के शरीरों द्वारा पूर्ण करता है और गलाता है—इसलिए पुद्गल है। वेद अर्थात् सुख-दुःख का वेदन करता है, इसलिए वेद है अथवा जानता है इसलिए वेद है। विष्णु अर्थात् प्राप्त हुए शरीर को व्याप्त करने वाला स्वयंभू अर्थात् स्वतः उत्पन्न शरीरी, मानव अर्थात् मनु-ज्ञान उसमें उत्पन्न होने से मानव है। सत्ता अर्थात् स्वजन, मित्रादि में आसक्त है। जन्तु अर्थात् चार गति रूप में उत्पन्न होता है। मानी अर्थात् मान कषाय युक्त, मायावी, योगी अर्थात् मन, वचन, काय रूप तीन योग सहित, संकुट अर्थात् अतिसूक्ष्म देह मिलने के कारण संकुचित होने से, असंकुट अर्थात् सम्पूर्ण लोकाकाश को व्याप्त करने वाला, क्षेत्रज्ञ-क्षेत्र अर्थात् अपने स्वरूप को जानने से, अन्तरात्मा अर्थात् आठ कर्मों के भीतर रहता है, इसलिए अन्तरात्मा है।

आचार्य जिनसेन ने भी महापुराण (२४/१०३) में जीव, प्राणी, जन्तु, क्षेत्रज्ञ, पुरुष, पुमान्, आत्मा, अन्तरात्मा, ज्ञ और ज्ञानी—इन सब शब्दों को जीव का पर्यायवाची कहा है।

अर्धमागधी प्राकृत के मूल अंग ग्रन्थ भगवती सूत्र में जीव के तेईस पर्यायवाची नामों का उल्लेख बहुत महत्त्वपूर्ण है। वे इस प्रकार हैं—जीव, जीवत्थिकाए, पाण, भूए, सत्ते, विष्णु, वेमा, चेमा, जेया, आया (आत्मा), रंगणा, हिंडुए, पोगले, माणवे, कत्ता, विकत्ता, जए, जंतु, जोणी, सयंभू, ससरीरी, यए, अंतरंप्पा। भगवती सूत्र में प्रतिपादित जीव के इन पर्यायवाची नामों का विवेचन इस प्रकार है—

१. जीव— जम्हा जीवेती, आउयं च कम्मं उपजीवति तम्हा, 'जीवेति वत्तत्वं सिया' अर्थात् जीता है जीवत्व और आयुष्य कर्म का अनुभव करता है, इससे प्राणी का नाम 'जीव' है। (भगवती २.१) जीवति प्राणान् धारयति— जीने का अर्थ है प्राणों का धारण करना।
२. जीवास्तिकाय—अस्ति=प्रदेश (वस्तु का यह कल्पित सूक्ष्मतम नाम जिसका फिर भाग न हो सके) काय=समूह अर्थात् जो प्रदेशों का समूह हो उसे अस्तिकाय कहते हैं। जीव स्वतंत्र रूप से विद्यमान है और असंख्यात प्रदेशों का समूह है, अतः जीवास्तिकाय कहलाता है।
३. प्राण— जीव श्वास-निःश्वास लेता है, अतः वह प्राणी है।<sup>१८</sup>
४. भूत— जम्हा भूते, भवति, भविस्सति य तम्हा 'भूए' ति वत्तत्वं सिया अर्थात् था, है और रहेगा—जीव का ऐसा स्वभाव होने से वह 'भूत' कहा जाता है।
५. सत्व— जम्हा सत्ते सुभाऽसुभेहिं तम्हा 'सत्ते' ति वत्तत्वं सिया—जीव सुन्दर असुन्दर क्रिया में, शुभ-अशुभ क्रिया में आसक्त अथवा समर्थ है, अतः वह सत्व है।

६. विज्ञ— जम्हा तित्त कडु-कसायंअबिल-मंहुरे रसे जाणइ तम्हा “विन्नु” त्ति वत्तत्वं सिया (भगवती २.१) यह तित्त है, यह कडुवा है, यह कषायला है, यह अबिल है, यह मधुर है, इन रसों को जानता है, भिन्न-भिन्न विषयों का ज्ञान (अनुभव) होता है वह जीव पदार्थ है। अतः उसे विज्ञ कहा जाता है।
७. वेद— वेदेति य सुह-दुक्खं तम्हा “वेदो” त्ति वत्तत्वं सिया (भ. २.१) वेदना ज्ञान-सुख-दुःख का अनुभव जिसमें हो वह ‘वेद या वेदक’ कहलाता है।
८. चेता— चेयाइ त्ति चेता पुद्गलानां चयकारी (अभयदेव टीका) दूध-पानी की तरह संसारी जीव कर्म परमाणु से लिप्त रहते हैं। एक क्षेत्रावगाही हो आत्मा और कर्म परस्पर ओत-प्रोत हो जाते हैं। इसीलिए संसारी जीव चेता-पुद्गलों को संग्रह करने वाला कहा गया है।
९. जेता— ‘जेयं’ त्ति जेता कर्म-रिपूणाम्-कर्म-शत्रुओं को जीतने का सामर्थ्य रखने से जीव का एक अभिवचन ‘जेता’ है। वस्तुतः कर्मों का बन्धन आत्मा की विभाव परिणति से होता है और उनका नाश स्वभाव परिणति से। दोनों परिणतियाँ जीव के ही होती हैं। अतः जैसे वह कर्मों को बाँधने वाला है वैसे ही उनका नाश कर उन पर विजय पाने वाला होने से उसे ‘जेता’ कहा जाता है।<sup>१९</sup>
१०. आत्मा— ‘आय’ त्ति आत्मा सतत् गामित्वात् (अभयदेव टीका) जब तक जीव कर्मों का आत्यन्तिक क्षय नहीं करता उसे बार-बार जन्म मरण करना पड़ता है।
११. रंगण— “रङ्गणं रागः तद्योगाद्रंगणः” इस प्रकार ‘रंगण’—राग को कहते हैं। राग से युक्त होने के कारण जीव रंगण कहलाता है। संसारी जीव राग-द्वेष की तरंगों में बहता रहता है। अतः राग-द्वेष में रहने-अनुरक्त रहने के कारण जीव को रंगण कहा गया है।
१२. हिंडुक— ‘हिंडुए’ त्ति हिण्डकत्वेन हिण्डकः गमनशील इत्यर्थः—(अभयदेव टीका) पूर्वोक्त दसवें ‘आत्मा’ शब्द जैसा अर्थ भी इस हिंडुक शब्द का है।
१३. पुद्गल— पूरणाद् गलनाच्च वपुरादीनामिति पुद्गलाः (अभयदेवसूरी टीका) संसारी जीव जन्म-जन्म में पौद्गलिक शरीर इन्द्रियाँ आदि को धारण करता रहता है, अतः जीव का नाम पुद्गल है। जीव कर्म-परमाणुओं का आत्म प्रदेशों में संचय करता है। शरीर आदि की रचना इसी प्रकार होती है।

- इससे जीव पुदगल है। यह कथन सांसारिक जीव की अपेक्षा से है।
१४. मानव— नाना पुनर्जन्म करते रहने पर भी आत्मा तो वही पुरानी (शाश्वत) ही रहती है। अतः इसका 'मानव' नाम रखा गया है। मा+नव। मा=नहीं, नव=नया अर्थात् जीव नया न होकर अनादि है। वह 'पुराण' है अर्थात् बराबर चला आता है, इसलिए मानव है। (मा निषेधे नवः प्रत्यग्रो मानवः अनादित्वात् पुराण इत्यर्थः।<sup>१०</sup>)
१५. कर्ता— कर्मों का कर्ता है ('कर्त्त' त्ति कर्त्ता कर्मणाम्)। इस तरह आत्मा ही कर्ता है। अपने सुख-दुःख का भी वह कर्ता है।
१६. विकर्ता— विशेषतो विच्छेदकः कर्मणाम् 'विकर्ता'। जैसे जीव में कर्म बन्धन की शक्ति है, वैसे ही उसमें कर्मों को तोड़ने और उनसे मुक्त होने की भी शक्ति है। इसी कारण उसे 'विकर्ता' कहा गया है।
१७. जगत्— अतिशयगमनाज्जगत्—अर्थात् जीव में एक स्थान से दूसरे स्थान के गमन करने की शक्ति होती है और वह शक्ति इतनी तीव्र होती है कि वह एक समय में जीव अपने स्थान से लोक के अन्त तक जा सकता है। अतः गमन करने की इस शक्ति के कारण जीव का नाम 'जगत्' है।
१८. जन्तु— 'जननाज्जन्तुः'—संसारी जीव-जन्मान्तर करता रहता है, इससे उसका नाम जन्तु है। जीव ने ८४ लाख योनियों में जन्म-मरण किया है।
१९. योनि— अन्यो का उत्पादक होने से जीव का नाम 'योनि' है। (योनिरन्येषा-मुत्पादकत्वात्)। जीव-जीव का उत्पादक नहीं हो सकता है, क्योंकि जीव स्वयंभूत होता है। वह घट, पट आदि पर वस्तुओं का उत्पादक होता है। इस अपेक्षा से जीव का अपर नाम 'योनि' है।<sup>११</sup>
२०. स्वयंभूत— स्वयं भवनात् स्वयंभू—आत्मा अपने आप में एक वस्तु है। उसे किसी ईश्वरादि ने नहीं बनाया, न वह संयोगी पदार्थ है। वह एक स्वतन्त्र स्वयंभूत वस्तु है अर्थात् आत्मा स्वयंसिद्ध पदार्थ है। आत्मा को सिद्ध करने वाले-बनाने वाले—अन्य द्रव्य प्राप्त न होने से वह स्वयं सिद्ध (स्वयंभूत) है।
२१. सशरीरी— 'सह शरीरेणेति सशरीरी'—जब तक कर्मों का संयोग रहता है तब तक शरीर का सम्बन्ध भी रहता है, अतः संसारी जीवो 'सशरीरी' कहा गया है। औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्मण-ये शरीर के पाँच भेद हैं।

२२. नायक— नायकः अर्थात् 'कर्मणां नेता'—जीव कर्मों का नेता है, इससे उसका नाम नायक है। कर्मों का नेता होने से अपने सुख-दुःख का भी नायक व नेता है। आचार्य भिक्षु ने इसका अर्थ 'न्याय को करने वाला' भी किया है। २२
२३. अन्तरात्मा— अन्तः मध्यरूप आत्मा, शरीर रूप इत्यन्तरात्मेति—यह शरीर आत्मा नहीं है, पर इस शरीर के अन्दर जो व्याप्त है वह आत्मा है। जीव और शरीर—तिल में तेल की तरह, छाछ और घी की तरह परस्पर लोलीभूत रहते हैं। जीव समूचे शरीर में व्याप्त रहता है, अतः इसे अन्तरात्मा कहते हैं। २३

इस प्रकार भगवती सूत्र में जीव के पूर्वोक्त तेईस पर्यायवाची नामों का उल्लेख बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

### जीव के भेद—

जीव के विविध भेदों का उल्लेख जैन धर्म—दर्शन में मिलता है। शौरसेनी प्राकृत के पंचास्तिकाय नामक ग्रन्थ में आचार्य कुन्दकुन्द ने तथा धवला टीका में आचार्य वीरसेन ने जीव के एक से लेकर दस भेदों तक का उल्लेख इस प्रकार किया है—<sup>२४</sup>

यह जीव द्रव्य (महात्मा) निरन्तर चैतन्यरूप धर्म से उपयुक्त होने के कारण उसकी अपेक्षा एक ही है। वस्तुतः चेतना गुण जीव का असाधारण धर्म है, क्योंकि यह सर्व जीवों में उपलब्ध होने से यह जीव मात्र का लक्षण है। अतः चेतना गुण की अपेक्षा से जीव एक प्रकार का है। ज्ञान और दर्शन के भेद से दो प्रकार का है। कर्मफल चेतना, कर्मचेतना और ज्ञान चेतना से लक्ष्यमाण होने के कारण तीन भेद रूप है। किसी भी वस्तु को जानने के लिए चेतना जो ज्ञानरूप परिणाम है उसे ज्ञानचेतना कहते हैं। कषायोदय से चेतना का क्रोधादि परिणाम है, वह कर्म चेतना है। शुभ एवं अशुभ कर्म के उदय से चेतना का जो सुख-दुःख रूप परिणाम है वह कर्मफल चेतना है। यह दार्शनिक दृष्टि से चेतना रूप जीव के तीन प्रकार हैं अथवा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य भेद से तीन भेद रूप हैं। नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव—इन चार गतियों में परिभ्रमण करने की अपेक्षा चार भेद हैं। औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक—इन पाँच प्रधान गुणों (भावों) से युक्त होने के कारण इसके पाँच भेद हैं। भवान्तर में संक्रमण के समय पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व, और अधो—इस तरह छह संक्रमण लक्षण उपक्रमों से युक्त होने की अपेक्षा छह प्रकार का है अथवा 'काय' (शरीर) की अपेक्षा—पृथ्वीकाय, अप्काय, तैजसकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय—के भेद से भी जीव के छह भेद हैं। यहाँ शरीर के अतिरिक्त काय का अर्थ समूह

या समुदाय भी है। संसार के समस्त जीव छह कार्यों में विभक्त होने के कारण ये षड्कायिक कहे जाते हैं। स्याद् अस्ति, स्याद् नास्ति आदि सात भंगों से युक्त होने की अपेक्षा सात प्रकार का है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय—इन आठ कर्मों का तथा आठ गुणों का आश्रय होने की अपेक्षा आठ प्रकार का है। जीव, अजीव आदि नौ पदार्थों का विषय करने वाला अथवा जीवादि नौ पदार्थ रूप परिणमन करने वाला होने की अपेक्षा नौ प्रकार का है। पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, प्रत्येक वनस्पति-जाति और पंचेन्द्रिय जाति के भेद से दस-स्थानगत होने की अपेक्षा जीव दस प्रकार का कहा गया है।

जीव के मुख्यतः दो भेद कहे गये हैं—संसारी और मुक्त।<sup>१५</sup> जिनके संसार है वे संसारी जीव हैं तथा जिनके पुद्गलकर्म रूप द्रव्यबंध और तज्जनित क्रोधादि-कषाय-रूप भावबंध दोनों नष्ट हो गये हैं वे मुक्त जीव हैं।

संसारी और मुक्त—इन दो भागों में विभक्त आत्मा में जो संसारी हैं वह कर्मयुक्त होते हैं और जो मुक्त हैं वह कर्म रहित होते हैं। जब आत्मा कर्मों का क्षयकर सर्वथा मलरहित होकर सिद्धि प्राप्त कर लेता है, तब लोक के अग्रभाग पर स्थित होकर शाश्वत सिद्ध हो जाता है।<sup>१६</sup> कर्म सहित आत्मा ही नाना जातियों व गतियों में परिभ्रमण करता है। उसका पुनर्जन्म और पूर्वजन्म होता है।

वस्तुतः मुक्तावस्था में जीव अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित होता है। मुक्त जीवों में एकरूपता और पूर्ण शुद्धता होने से इनमें किसी प्रकार का स्तर या भेद नहीं होता किन्तु संसारी जीवों में अनेक प्रकार के भेद पाये जाते हैं।<sup>१७</sup>

संसारी जीव के भी भेद हैं—त्रस और स्थावर।<sup>१८</sup> त्रस नाम-कर्म के उदय से जीव त्रस और स्थावर नामकर्म के उदय से स्थावर जीव कहे जाते हैं। त्रस और स्थावर के भेदों में संसारी जीवों का समग्रभाव से समावेश हो जाता है। संसारी जीव इन दोनों से बाहर नहीं रहते। द्वीन्द्रिय जीव से लेकर अयोगकेवली तक के सब जीव त्रस हैं। त्रस श्रेष्ठ हैं, क्योंकि इनमें सब उपयोगों का पाया जाना सम्भव है।

त्रस जीव के चार भेद हैं—१. द्वीन्द्रिय—स्पर्श और रसना इन दो इन्द्रियों वाले जीव—जैसे शंख आदि। २. त्रीन्द्रिय—स्पर्श, रसन और घ्राण—इन तीन इन्द्रियों वाले जीव जैसे चींटी आदि। ३. चतुरिन्द्रिय—स्पर्श, रसन, घ्राण और चक्षु—इन चार इन्द्रियों वाले जीव जैसे मक्खी, भ्रमर आदि तथा ४. पंचेन्द्रिय—स्पर्श, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र—इन सभी पांचों इन्द्रियों सहित मनुष्य, पशु, देव, नारकी आदि जीव।

पूर्व में गति-की दृष्टि से जीव के नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव—ये चार भेद बतलाये थे।

नरकगति नाम कर्म के उदय में जीव नरक गति में उत्पन्न होता है। चारों गतियों के जीवों के विषय में कुछ जानकारी आवश्यक है। नरक जीवों के शरीर, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, संस्थान—ये सब अशुभ होते हैं। इनका शरीर वैक्रियक होता है। तिर्यञ्च और मनुष्य ही मरकर नरक में उत्पन्न होते हैं, देव नहीं। नारक भी मरकर पुनः नरक में उत्पन्न नहीं होते।

तिर्यञ्च गति नाम कर्म के उदय से तिर्यञ्च गति में उत्पन्न होता है। नारक, मनुष्य और देव—इनको छोड़, संसार के शेष समस्त जीव तिर्यञ्च होते हैं। क्षुद्र जन्तु, पशु, और पक्षी सब तिर्यञ्च हैं जो कि एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीव होते हैं जबकि देव, नारक, मनुष्य—ये सब पंचेन्द्रिय ही होते हैं। इसीलिए द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय के जीव विकलेन्द्रिय कहे जाते हैं। पृथ्वी अप, तेज, वायु, और वनस्पति—ये स्थावर एकेन्द्रिय जीव भी तिर्यञ्च ही हैं। तिर्यञ्चों में पंचेन्द्रिय जीव भी जलचर, स्थलचर और खेचर भेद रूप तीन प्रकार है। इस प्रकार तिर्यञ्च जीवों का अन्य की अपेक्षा विशाल क्षेत्र है। क्योंकि ये संख्यात, असंख्यात और अनन्त हैं।

मनुष्यगति नामकर्म के उदय से जीव का मनुष्य गति में जन्म होता है। चारों गतियों में मनुष्य गति सर्वश्रेष्ठ है। देवगति से भी श्रेष्ठ, क्योंकि यह एक मात्र ऐसी गति है जिससे अपनी अध्यात्म और संयम साधना द्वारा सम्पूर्ण कर्मों से छूटकर मोक्ष प्राप्त करके अपना भव-भ्रमण समाप्त करके जीवन सार्थक कर सकता है। जबकि यह कार्य अन्य गतियों से असम्भव है। मनुष्य भी आर्य और अनार्य भेद से दो प्रकार के हैं। जो हिंसा आदि दोषों से परे रहते हैं वे आर्य कहलाते हैं और जो इन दोषों से लिप्त रहते हैं, ये अनार्य कहे जाते हैं।

देवगति नामकर्मोदय से जीव को देव पर्याय प्राप्त होती है। इनका शरीर भी वैक्रियक होता है। इसमें शुभ लेश्यायें और शुभ परिणाम होते हैं। ये भी चार प्रकार के हैं—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक।

स्थावरकायिक जीव के पाँच भेद हैं—पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक<sup>३६</sup>। इन पाँच स्थावरकाय के जीव स्थावर नामकर्म के उदय से स्थावरकायिक होते हैं। ये स्थानशील होते हैं, चलते-फिरते नहीं, अपितु एक ही स्थान पर स्थिर रहने से इन्हें स्थावर कहा जाता है।

इन पाँचों में प्रथम पृथ्वीकाय जीव जैसे मिट्टी, खाने में रहे हुए स्फटिक, मणि, रत्न, हिंगुल, हरताल, अभ्रक, सुवर्ण, रजत और पत्थर आदि अनेक प्रकार हैं। मूलाचार (६/९-१२) में इनके भेद वर्णित हैं। ये ही खदान आदि से निकलने एवं अग्नि आदि अन्यान्य विजातीय पदार्थों के संयोग से निर्जीव हो जाते हैं। कुन्दकुन्द कृत माने जाने वाले मूलाचार (५/९) में पृथ्वी के मूलतः चार भेद बतलाये गये हैं—पृथ्वी, पृथ्वीकाय, पृथ्वीकायिक तथा



पृथ्वीजीव। इनमें १. अचेतन और कठिन गुण धारण करने वाली सामान्य पृथ्वी को पृथ्वी कहते हैं। जैसे मार्ग की धूलि, जली हुई मिट्टी आदि। 2. पृथ्वीकायिक जीव जिसे छोड़कर जन्म होने के लिए अन्यत्र चला गया है, उस पृथ्वीकायिक के शरीर को पृथ्वीकाय कहते हैं। जैसे मृत मनुष्य शरीर। ३. जिसने पृथ्वी को अपना शरीर बना लिया है अर्थात् जो जीव पृथ्वी को शरीर रूप से धारण करता है, उसे पृथ्वीकायिक कहते हैं तथा ४. जो कार्मणकाययोग में हैं, जिसमें पृथ्वी नामकर्म का उदय है किन्तु जिसने पृथ्वी को शरीर रूप में ग्रहण नहीं किया है, उस विग्रहगति स्थित जीव को पृथ्वीजीव कहते हैं।<sup>१०</sup>

द्वितीय-अपकायिक जीव वे हैं जिनका अप् (जल) रूप शरीर है। जैसे कूप, सरोवर, नदी, हिम, वर्षा आदि का जल एवं अन्यान्य प्रकार का जल। तृतीय-तेजस् (अग्नि) है शरीर जिनका वे तेजस्काय जीव कहलाते हैं। जैसे अंगार, ज्वाला, अर्चिस, मुर्मुर् (करीषाग्नि अर्थात् कण्डे की राख में मिले हुए आग के कण), शुद्धाग्नि—वज्र, विद्युत्, सूर्यकान्तमणि आदि से उत्पन्न अग्नि तथा सामान्य अग्नि—ये सब तेजस्कायिक जीव हैं। चतुर्थ-वायु है शरीर जिनका वे वायुकायिक जीव हैं। जैसे उद्भ्रामकवात, चक्रवात, गुंजावात, महावात, घनोदधिवात, घनवात, तनुवात, प्राणायाम तथा उदर में स्थित प्राण, अपान, समान, उदान तथा व्यान रूप आदि वायु। पंचम-वनस्पति है शरीर जिनका वे वनस्पतिकायिक जीव हैं।

जैन शास्त्रों में इनका सूक्ष्म किन्तु विस्तृत विवेचन है, जिसे पढ़कर आधुनिक वनस्पति वैज्ञानिक तक आश्चर्य में पड़ जाते हैं। आधुनिक विज्ञान के सन्दर्भ में इनका अध्ययन बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकता है। पेड़, पौधों आदि वनस्पति में तो अब से कुछ दशक पूर्व ही विज्ञान ने जीवत्व सिद्ध किया है किन्तु जैनधर्म तो लाखों वर्ष पूर्व प्रारम्भ से ही वनस्पति को जीव मानता आ रहा है।

वनस्पतिकायिक जीवों में मात्र एक स्पर्शन इन्द्रिय तथा संस्थान नामकर्म के उदय से संस्थान (शरीराकार) होता है। वनस्पति जीव के दो भेद हैं—प्रत्येककाय और अनन्त या साधारणकाय वनस्पति। इनमें प्रत्येककाय (स्थूल) ही होता है। एक शरीर में एक जीव होने वाली वनस्पति प्रत्येककाय वनस्पति है। जैसे खैर आदि रूप वनस्पति वृक्ष। २. अनन्तकाय या साधारण वनस्पति—ये बादर और सूक्ष्म दोनों रूप होते हैं। इनमें एक शरीर के अनन्तजीव या अनन्त जीवों के सम्मिलित शरीर को अनन्तकाय कहते हैं। जैसे जिन वनस्पति जीवों की शिरा, संधि तथा गाँठ नहीं दिखती, जिसे तोड़ने पर समान टुकड़े हो जाते हैं, छेदने पर पुनः अंकुरित हो जाते हैं, उन्हें अनन्तकाय या साधारण नाम वनस्पति कहते हैं।

इस प्रकार इन पाँच स्थावरकायिक जीवों का अध्ययन पर्यावरण संरक्षण के लिए भी बहुत उपयोगी है।

जितने भी संसारी जीव हैं वे मन सहित (समनस्क अथवा संज्ञी) और मन रहित (अमनस्क या असंज्ञी)—इन दो विभागों में भी विभक्त हैं। पंचेन्द्रिय को छोड़कर शेष एकेन्द्रिय आदि सभी जीव अमनस्क होते हैं<sup>३१</sup>। आत्मा की दृष्टि से जीव के तीन भेद बतलाये गये हैं— १. बहिरात्मा, २. अन्तरात्मा और परमात्मा। १. जो शरीर को ही आत्मा मानता है वह बहिरात्मा कहलाता है। इसे मिथ्यादृष्टि कहते हैं। २. जो शरीर और आत्मा को पृथक्-पृथक् अनुभव करता है वह अन्तरात्मा है। इसके भी जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट—ये तीन भेद हैं। ३. जिसने चार घातिया अथवा आठ कर्म नष्ट कर दिये हैं वह परमात्मा कहलाता है। चार घातिया कर्म नष्ट करने वाले अरहंत सकल-परमात्मा हैं तथा आठों कर्मों को नष्ट करने-वाले सिद्ध परमेष्ठी परमात्मा है।

प्रस्तुत निबन्ध में जीव द्रव्य, जीव पदार्थ, जीवास्तिकाय तथा जीवतत्त्व—इन चार रूपों में 'जीव' शब्द का उल्लेख किया गया है। अतः यह प्रश्न उठना भी स्वाभाविक है कि इनमें परस्पर अन्तर क्या है? अतः यह स्पष्टीकरण भी आवश्यक है। वस्तुतः पद, अर्थ और ज्ञान के भेद से पदार्थ तीन प्रकार के हैं। वक्ता अपने अभिप्रेत अर्थ को प्रकट करने के लिए जिस पद (शब्द) का प्रयोग करता है उसे पद कहते हैं। जैसे ज्ञान-दर्शन लक्षण वाले अभिप्रेत प्रकट करने के लिए वक्ता ने जीव पद (जीव शब्द) का प्रयोग किया, यह जीव पद है। इसका वाच्यभूत ज्ञान-दर्शन लक्षण वाला जो पदार्थ है वह 'जीव पदार्थ' है। श्रोता के ज्ञान में जो उसकी आकृति या विशिष्टता झलकती है वह 'ज्ञानजीव' है। इसी पदार्थ का कालद्रव्य का आश्रय लेकर जब उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप परिणमन विक्षित होता है तब उसे 'जीव द्रव्य' कहते हैं। जब क्षेत्र की अपेक्षा उसके विस्तार की विवक्षा होती है तब उसे 'जीवास्तिकाय' कहते हैं और भाव की अपेक्षा जब उसके ज्ञायक-स्वाभाव की विवक्षा होती है तब उसे 'जीवतत्त्व' कहते हैं।<sup>३२</sup>

इस प्रकार जैन धर्म दर्शन में जीव तत्त्व का स्वरूप प्रतिपादित है। जिसका विवेचन विविध दृष्टियों से धर्म-दर्शन के क्षेत्र में महत्वपूर्ण है ही, आधुनिक विज्ञान के लिए भी इसका अध्ययन-अनुसंधान बहुत ही सहयोगी व मार्गदर्शक सिद्ध हो सकता है।

### सन्दर्भ—

१. दुःख, २. दुःख का कारण (दुःख समुदाय) ३. दुःख निरोध और ४. दुःख निरोध का मार्ग
२. सम्यक्दृष्टि-संकल्प-वाक्-कर्म-जीविका-व्यायाम-स्मृति एवं सम्यक् समाधि।
३. विश्वतत्त्वप्रकाशः प्रस्तावना पृ. २५-२६।

४. आयारो १/१/१-५।
५. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः—तत्त्वार्थसूत्र १/१।
६. तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्—वही १/२।
७. वही १/४।
८. दशवैकालिक ४/१२
९. दशवैकालिक ४/१४-२१ (जैन विश्व भारती, लाडनूँ से प्रकाशित)।
१०. ठाणं, टिप्पण पृष्ठ २०।
११. भगवई २/१५।
१२. प्रवचनसार गाथा-१४७, पंचास्तिकाय गाथा ३०।
१३. उपयोगो लक्षणम्—तत्त्वार्थसूत्र २/८।
१४. पंचास्तिकाय गाथा-२७।
१५. भावपाहुड गाथा-१४६।
१६. छक्खण्डागम जीवट्टाण धवला १/१/२ पृ. ११९-१२० गाथा सं. ८१-८२।
१७. अंगसुत्ताणि : भाग २ भगवई २०/३/१७।
१८. भगवई २.१।
१९. नव पदार्थ-आचार्य भिक्षु, पृ. ३२, जैन श्वे. तेरापंथी महासभा, कलकत्ता १९६१।
२०. नवपदार्थ, पृ. ३३, २१. वही, पृ. ३५, २२. वही, पृ. ३६। २३. वही, पृ. ३६।
२४. पंचास्तिकाय गाथा ७१, ७२। षट्खण्डागम धवला १/१/२ पृ. १०१ गाथा ७२-७३।
२५. (के) दुविहा य होंति जीवा संसारत्था य णिव्वुदा चेव—मूलाचार ५.७।  
(ख) संसारिणो मुक्काश्च—तत्त्वार्थसूत्र २/१०।
२६. दशवैकालिक ४/१९।
२७. तत्त्वार्थवार्तिक २/१०/२ पृ. १२४।
२८. संसारिणस्ससथावराः २/१२ सर्वार्थसिद्धि।
२९. पृथिव्यसेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः वही २/१३।
३०. मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययनः पृ. ४८०, लेखक-डॉ. फूलचन्द जैन प्रेमी।
३१. द्रव्यसंग्रह गाथा १२।
३२. श्रुतसप्ताह—नवनीत पृ. ६७ प्रका. अ.भा.दि. जैन विद्वत् परिषद्, सागर १९७१।

शोध छात्र, जैन विद्या एवं तुलनात्मक धर्म दर्शन विभाग

जैन विश्व भारती विश्वविद्यालय, लाडनूँ (राज.)

पिन-341 306



## दिशा-ज्ञान

# आगम-साहित्य में दिशा का स्वरूप

✍ डॉ. समणी कुसुमप्रज्ञा

आगम-साहित्य में दिशा के बारे में बहुत विमर्श हुआ है। दिशाएं व्यक्ति के मानस को प्रभावित करती हैं, इसीलिए बैठने, सोने या शुभकार्य में दिशा का ध्यान रखने की बात अनेक स्थानों पर निर्दिष्ट है। भगवान् महावीर ने उत्तरपुरत्थिम—उत्तरपूर्व अर्थात् ईशाण कोण को सर्वश्रेष्ठ दिशा माना है तथा मांगलिक एवं शुभ कार्यों को इसी दिशा में सम्पन्न करने का निर्देश दिया है। ठाणं सूत्र में दिशा के तीन भेद मिलते हैं - 1. ऊर्ध्व दिशा 2. अधः दिशा 3. तिर्यक् दिशा।<sup>1</sup> आचारांगनिर्युक्ति में दिशा के बारे में बहुत विस्तृत एवं व्यवस्थित विवेचन मिलता है। निर्युक्तिकार ने दिशा के सात निक्षेप किए हैं<sup>2</sup>— 1. नाम दिशा 2. स्थापना दिशा 3. द्रव्य दिशा 4. क्षेत्र दिशा 5. ताप दिशा 6. प्रज्ञापक दिशा 7. भाव दिशा। दिशाओं का वर्णन निर्युक्तिकार के बाहुश्रुत्य को प्रकट करने वाला है।

### **द्रव्य दिशा**

जो दश दिशाओं के उत्थान का कारण है, वह द्रव्य दिशा है। यह जघन्यतः तेरह प्रदेशी और तेरह आकाश प्रदेशों में तथा उत्कृष्टतः अनंत प्रदेशी तथा असंख्यात आत्मप्रदेशों में अवगाढ होती है।<sup>3</sup> तेरह प्रदेशों की स्थापना का क्रम इस प्रकार रहता है—मध्य में एक और चार विदिशाओं में एक-एक, इस प्रकार पाँच प्रदेशावगाढ

पांच परमाणु तथा चार दिशाओं में आयत रूप में स्थित दो-दो परमाणु, इस प्रकार जघन्यतः तेरह आकाश-प्रदेशों में अवगाढ तेरह प्रदेशी स्कन्ध दश दिशाओं के उत्थान के हेतु हैं और यही द्रव्य दिशा कहलाती है।

कुछ आचार्य दस परमाणुओं को दश दिशाओं में स्थापित कर उन्हें दिशाओं के उत्थान का हेतु मानते थे लेकिन टीकाकार शीलांक ने इसका खंडन किया है, क्योंकि दश दिशाओं का आकार चतुरस्र होता है और वह दस परमाणुओं से संभव नहीं है अतः तेरह परमाणु ही दश दिशाओं के उत्थान के कारण हैं, न्यून या अधिक नहीं।

### क्षेत्रदिशा

तिर्यक् लोक के मध्य में मेरु के मध्यभाग में आठ रुचक प्रदेश हैं। ये रुचक प्रदेश चार ऊपर तथा चार नीचे गोस्तन आकार वाले हैं। ये रुचक प्रदेश सब दिशाओं तथा विदिशाओं के उत्पत्ति-स्थल हैं। क्षेत्र दिशाओं के दश प्रकार हैं— 1. पूर्व 2. पूर्व दक्षिण 3. दक्षिण 4. दक्षिण पश्चिम 5. पश्चिम 6. पश्चिमोत्तर 7. उत्तर 8. उत्तर पूर्व 9. ऊर्ध्व 10. अधः। इन दिशाओं के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं— 1. ऐन्द्री 2. आग्नेयी 3. याम्या 4. नैऋती 5. वारुणी 6. वायव्या 7. सोमा 8. ईशानी 9. विमला 10. तमा। इनमें ऐन्द्री (पूर्व), याम्या (दक्षिण), वारुणी (पश्चिम) और सोमा (उत्तर)— ये चार महादिशाएं तथा आग्नेयी, नैऋती, वायव्या और ईशानी—ये चार दिशाएं कहलाती हैं। ये चार दिशाओं के चार कोणों में होती हैं। विमला को ऊर्ध्व तथा तमा को अधः दिशा कहा जाता है। रुचक प्रदेश के विजयद्वार से ऐन्द्री दिशा निकलती है अर्थात् जहां विजयद्वार है, वहां पूर्व दिशा होती है। उसके वाम पार्श्व से आग्नेयी फिर क्रमशः याम्या, नैऋती, वारुणी, वायव्या, सोमा, और उत्तर दिशाएं निकलती हैं। आचार्य मलयगिरि के अनुसार ये तिर्यक् दिशाएं रुचक प्रदेशों से निकलती हैं, अतः इन्हें तिर्यक् दिशा कहा जाता है। पूर्वदिशा का स्वामी इंद्र है, इसलिए उसे ऐन्द्री कहा जाता है। इसी प्रकार अग्नि, यम, नैऋत, वरुण, वायु, सोम और ईशान आदि देव होने के कारण इन दिशाओं को क्रमशः आग्नेयी, याम्या, नैऋती, वारुणी, वायव्या, सोमा और ऐशानी कहते हैं। प्रकाशयुक्त होने के कारण ऊर्ध्व दिशा को विमला तथा अंधकार युक्त होने के कारण अधोदिशा को तमा कहते हैं।

भगवती सूत्र में क्षेत्र दिशा आदि भेद न करके दिशा के पूर्व आदि दश भेद किए हैं। वहां प्रश्न उपस्थित किया गया है कि इन ऐन्द्री आदि दिशाओं की आदि क्या है? इनकी उत्पत्ति कहां होती है? ये कितने प्रदेशों से प्रारम्भ होती हैं? आगे इनके कितने प्रदेश होते हैं? ये कहां पर्यवसित होती हैं तथा इनका संस्थान क्या है?

इन प्रश्नों के समाधान में महावीर कहते हैं कि ऐन्द्री आदि चार दिशाओं की आदि मेरु

पर्वत के रुचक प्रदेशों से होती है। ये दो प्रदेशों से प्रारम्भ होकर दो-दो के क्रम से बढ़ती जाती हैं अर्थात् पूर्व आदि दिशाएं पहले दो प्रदेशों से प्रारम्भ होती हैं फिर चार-चार, छह-छह और आठ-आठ इस प्रकार दो-दो के क्रम से इनके प्रदेशों में वृद्धि होती जाती है। लोक की अपेक्षा से ये असंख्येय प्रदेशात्मिका तथा अलोक की अपेक्षा से अनन्त प्रदेशात्मिका होती हैं। लोक की अपेक्षा से ये सादि और सपर्यवसित हैं किन्तु अलोक की अपेक्षा से सादि और अपर्यवसित हैं। लोक के अनुसार इनका संस्थान मुरव जैसा तथा अलोक की अपेक्षा शकटोर्द्धि- शकट के आगे के भाग जैसा है।<sup>१८</sup> चार विदिशाओं की आदि भी मेरु पर्वत के रुचक प्रदेशों से होती है। इनकी आदि एक प्रदेश से होती है तथा आगे भी अलोक तक ये एक प्रदेश विस्तीर्ण ही होती हैं। इनके प्रदेशों में वृद्धि नहीं होती। सम्पूर्ण लोक की अपेक्षा से ये असंख्येय प्रदेशात्मिका तथा सादि सपर्यवसित होती हैं। अलोक की अपेक्षा अनन्त प्रदेशात्मिका तथा सादि अपर्यवसित होती हैं। एक प्रदेशात्मिका होने के कारण ये छिन्न मुक्तावलि के आकार वाली होती हैं।<sup>१९</sup>

विमला और तमा का वर्णन भी दिशा और विदिशाओं की भांति ही है। अंतर केवल इतना है कि इनकी उत्पत्ति चार प्रदेशों से होती है। ये दोनों दिशाएं चतुरस्र दण्डकार होती हैं, अतः इनका संस्थान रुचक प्रदेशों जितना है।<sup>२०</sup> भगवती के अनुसार ऐन्द्री आदि चार महादिशाएं जीव के देश रूप तथा प्रदेश रूप हैं पर आग्नेयी आदि चार विदिशाएं एक प्रदेशात्मिका होने के कारण जीव रूप नहीं हैं, क्योंकि जीव का अवगाह असंख्यात प्रदेशों में ही सभं व हैं। निर्युक्तिकार ने संक्षेप में भगवती सूत्र का संवादी वर्णन किया है।<sup>२१</sup>

संस्थान के बारे में चर्चा करते हुए निर्युक्तिकार कहते हैं कि सभी दिशाएं मध्य में आदि सहित तथा बाह्य पार्श्व में अपर्यवसित—अंतरहित होती हैं। बाह्य भाग में अलोकाकाश के कारण अपर्यवसित होती हैं। इन सभी दिशाओं की आगमिक संज्ञा कडजुम्म है।<sup>२२</sup> भगवती सूत्र में चार महादिशाओं का लोक और अलोक की अपेक्षा से अलग-अलग संस्थान का उल्लेख किया है जबकि निर्युक्तिकार ने इन्हें केवल शकटोर्द्धि—गाडी की उर्द्धि—ओढण संस्थान वाला बताया है। विदिशाओं तथा ऊर्ध्व और अधः दिशाओं के संस्थान भगवती सूत्र जैसा ही है।

### तापदिशा

सूर्य के आधार पर जिन दिशाओं का निर्धारण होता है, वे ताप दिशाएं कहलाती हैं। जिस क्षेत्र में जिस ओर सूर्य उदित होता है, उस क्षेत्र के लिए वह पूर्व दिशा है। जिस ओर सूर्य अस्त होता है, वह पश्चिम दिशा है। उसके दक्षिण पार्श्व में दक्षिण दिशा तथा उत्तर पार्श्व में उत्तर दिशा है।<sup>२३</sup> ये चार तापदिशाएं कहलाती हैं। सबके उत्तर में मेरु तथा दक्षिण में लवण समुद्र है।<sup>२४</sup>

### प्रज्ञापक दिशा

कोई प्रज्ञापक जहां कहीं स्थिर होकर दिशाओं के आधार पर किसी को निमित्त अर्थात् ज्योतिष का कथन करता है, वह जिस ओर अभिमुख है, वह पूर्व दिशा है। उसकी पीठ के पीछे वाली पश्चिम दिशा है। उसके दक्षिण पार्श्व में दक्षिण दिशा और बाईं ओर उत्तर दिशा है।<sup>16</sup> इन चार दिशाओं के अन्तराल में चार विदिशाएं हैं, इन आठ दिशाओं के अंतराल में आठ अन्य दिशाएं हैं। इन सोलह तिर्यग् दिशाओं का पिण्ड शरीर की ऊंचाई के परिमाण वाला होता है। पैरों के नीचे अधोदिशा तथा मस्तक के ऊपर ऊर्ध्वदिशा है। ये अठारह प्रज्ञापक दिशाएं हैं। इन प्रकल्पित अठारह दिशाओं के नाम इस प्रकार हैं- 1. पूर्व 2. पूर्व दक्षिण 3. दक्षिण 4. दक्षिण पश्चिम 5. पश्चिम 6. पश्चिम उत्तर 7. उत्तर 8. उत्तर पूर्व 9. सामुत्थानी 10. कपिला 11. खेलिज्जा 12. अभिधर्मा 13. पर्याधर्मा 14. सावित्री 15. प्रज्ञा पूर्णा 16. वृत्ति 17. अधः दिशा 18. ऊर्ध्वदिशा।<sup>17</sup> आचारागनिर्युक्ति गा.57 में आए पण्णवित्ती शब्द को यदि प्रज्ञापनी मानकर एक शब्द माना जाए तो प्रज्ञापक दिशा के केवल 17 नाम ही होते हैं। पण्णवित्ती को यदि दो शब्द माने तो प्रज्ञा और वृत्ति ये दो संस्कृत रूपान्तरण संभव हैं। पण्णवित्ती पाठ के स्थान पर यदि पुण्णवित्ति को स्वीकार करें तो पूर्णा और वृत्ति ये दो नाम हो सकते हैं। चूंकि ये नाम आचारागनिर्युक्ति के अतिरिक्त और कहीं नहीं मिलते, अतः केवल संभावना ही व्यक्त की जा सकती है। निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। डॉ. सागरमलजी जैन का अभिमत है कि सामुत्थानि आदि आठ नाम सूर्य की सूर्योदय से सूर्यास्त तक की विभिन्न अवस्थाओं के द्योतक हैं। इस सदर्भ में यह संभावना व्यक्त की जा सकती है कि ये नाम नक्षत्र विशेष से संबंधित रहे होंगे अथवा ज्योतिष की दृष्टि से इनका कोई विशेष महत्त्व रहा होगा।

प्रज्ञापक दिशाओं में प्रारम्भिक सोलह तिर्यक् दिशा शकटोद्धिक संस्थान वाली हैं। ऊंची और नीची ये दो दिशाएं सीधे और ओंधे मुंह रखे हुए शरावों के आकार वाली हैं।<sup>18</sup>

### भावदिशा

जिससे या जिसमें पृथ्वी, नारक आदि के रूप में संसारी प्राणियों का व्यपदेश किया जाता है, वह भावदिशा है। कर्मों के वशीभूत होकर जीव इन भाव दिशाओं में गमन एवं आगमन करते हैं-<sup>19</sup>

1. पृथ्वी 2. जल 3. अग्नि 4. वायु 5. मूल बीज 6. स्कन्ध बीज 7. अग्रबीज 8. पर्वबीज 9. द्वीन्द्रिय 10. त्रीन्द्रिय 11. चतुरिन्द्रिय 12. तिर्यच पंचेन्द्रिय 13. समूर्च्छिम मनुष्य 14. कर्मभूमिज मनुष्य 15. अकर्मभूमिज मनुष्य 16. अन्तर्द्वीपज मनुष्य 17. नारक 18. देव

बृहत्कल्पभाष्य और आवश्यकनिर्युक्ति की हारिभद्रीय टीका<sup>१०</sup> में शव के परिष्ठान के प्रसंग में दिशाओं के बारे में महत्त्वपूर्ण जानकारी मिलती है। शव के परिष्ठान के लिए दक्षिण-पश्चिम दिशा अर्थात् नैऋती दिशा को श्रेष्ठ माना है। उसके अभाव में दक्षिण दिशा, उसके अभाव में पश्चिम, उसके अभाव में आग्नेयी—दक्षिण पूर्व, उसके अभाव में वायव्य—पश्चिम उत्तर, उसके अभाव में पूर्वदिशा, उसके अभाव में उत्तर तथा उसके अभाव में उत्तरपूर्व दिशा का उपयोग करना चाहिए।

किस दिशा में मृतक साधु का शव परिष्ठापित करने में क्या असर होता है, इसका वर्णन भी व्याख्या-साहित्य में मिलता है। नैऋत दिशा में शव का परिष्ठान करने से अन्न-पान और वस्त्र का प्रचुर लाभ होता है और समूचे संघ में समाधि होती है। दक्षिण दिशा में परिष्ठान करने में अन्न-पान का अभाव होता है। पश्चिम दिशा में उपकरणों की प्राप्ति दुर्लभ होती है, आग्नेयी दिशा में परिष्ठापित करने से साधुओं में परस्पर तू-तू-मैं-मैं हाती है। वायव्य दिशा में साधुओं में परस्पर तथा गृहस्थ एवं अन्य तीर्थिकों के साथ कलह होता है। पूर्वदिशा में परिष्ठान गण-भेद एवं चारित्र-भेद का कारण बनता है। उत्तर में करने से रोग होता है तथा पूर्व उत्तर दिशा में परिष्ठान करने से अन्य कोई साधु मृत्यु को प्राप्त होता है।<sup>११</sup>

### दिशाएं और वास्तुशास्त्र

वास्तुशास्त्र दिशाओं पर आधारित विद्या विशेष है। किस दिशा में बैठने, सोने, पढ़ने अथवा खाने से क्या प्रभाव होता है, इसका विस्तृत विवेचन वास्तुशास्त्र में मिलता है। मकान आदि के शुभाशुभ फल का ज्ञान भर वास्तुशास्त्री दिशाओं के आधार पर करते हैं। वास्तुशास्त्र में आठ दिशाओं का उल्लेख मिलता है- 1. पूर्व 2. पश्चिम 3. उत्तर 4. दक्षिण 5. ईशाणकोण, 6. अग्निकोण, 7. नैऋतकोण 8. वायव्य कोण। वास्तु-विशेषज्ञों के अनुसार पूर्वदिशा अग्नि तत्त्व को इंगित करने वाली दिशा है। पश्चिम दिशा वायु तत्त्व को इंगित करती है। इसका स्वामी वरुण है। इसका प्रभाव अस्थिर एवं चंचल माना गया है। उत्तर दिशा में जल तत्त्व विद्यमान रहता है। इस दिशा का स्वामी कुबेर माना गया है। वास्तु-शास्त्री चिंतन-मनन के लिए उत्तरदिशा को उत्तम मानते हैं, क्योंकि यह दिशा ध्रुव तारे स्थिरता की द्योतक है। दक्षिण दिशा में पृथ्वी तत्त्व माना गया है। इसका स्वामी यम है। ईशाण कोण को वास्तु-शास्त्र में ईश्वर तुल्य महत्त्व दिया गया है, क्योंकि यह उत्तर और पूर्व -दो शुभ दिशाओं के मध्य है।

वैशेषिक दर्शन में दिशा को द्रव्य रूप में स्वीकार किया है लेकिन महावीर ने इसे आकाश विशेष के रूप में स्वीकार किया, क्योंकि दिशाएं आकाश विशेष का ही एक भाग हैं। स्वरविज्ञान एवं ज्योतिष विद्या में दिशाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। दिशाओं के बारे में



वैज्ञानिकों ने भी अपनी शोध प्रस्तुत की है कि दिशाओं में अपने विकिरण होते हैं जो व्यक्ति के मानस को बहुत अंशों में प्रभावित करते हैं। भौगोलिक एवं दिशाओं की उत्पत्ति की दृष्टि से जैन आगम-साहित्य में जितना सूक्ष्मता से चिंतन किया गया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

सन्दर्भ :

१. णाणं ३/३२०
२. आचारांग निर्युक्ति ४०
३. वही ४१, विभा २६९८
४. आचारांग टीका पृ. ९;
५. णाणं १०/३०, आनि ४२ टी पृ. ९
६. भगवती १३/५१
७. णाणं १०/३१, आनि ४३
८. भगवती १३/५२
९. भगवती १३/५३
१०. भगवती १३/५४
११. भगवती १०/५, ६
१२. आनि ४४
१३. आनि ४५
१४. आनि ४७, ४८, विभा २७०१
१५. आनि ५०
१६. आनि ५१, ५२, विभा २७०२
१७. आनि ५५-५८
१८. आनि ५९
१९. आनि ६०, विभा २७०३, २७०४
२०. आवश्यक हारिभद्रीय टीका भाग २ पृ. ८३, ८४
२१. बृभा ५५०५, ५५०६

सम्पर्क—गौतम ज्ञानशला,  
जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज.)



## व्याकरण

# भासनाटक चक्र में प्राकृत के सम्बन्ध भूत कृदन्त रूप

✍ कमलेश कुमार छ. चौकसी

संस्कृत में धातु से क्त्वा> त्वा प्रत्यय होकर जो रूप बनते हैं, उन्हें सम्बन्धभूतकृदन्त के नाम से जाना जाता है। तद्यथा- 'भू' धातु से क्त्वा> त्वा होकर बनने वाला रूप भूत्वा; पठ् से क्त्वा> त्वा होकर बनने वाला रूप पठित्वा इत्यादि। संस्कृत में प्रायः सभी धातुओं से ऐसे ही रूप बनते हैं; परन्तु जहां पूर्व में उपसर्ग आ जाता है, वहां 'त्वा' प्रत्यय के स्थान में ल्यप्> य आदेश हो जाता है और इस तरह सम्+भू+क्त्वा>ल्यप्>य= 'सम्भूय' इत्यादि रूप बनते हैं।

इस प्रकार संस्कृत में उपसर्ग हो तब 'य' और न हो तब 'त्वा' इस प्रकार का जो प्रत्यय-भेद पाया जाता है, वैसा प्राकृत भाषाओं में नहीं है। प्राकृतभाषाओं में तो समान रूप से उपसर्ग हो या न हो, दोनों अवस्थाओं में एक समान प्रत्यय होकर सम्बन्धक भूतकृदन्त के रूप बनते हैं।

प्राकृत के व्याकरणों में इन रूपों का विस्तार से अनुशासन किया गया है। प्रमुख व्याकरणकार के रूप में प्रसिद्ध आचार्य हेमचन्द्र के सिद्धहैमशब्दानुशासन में महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची तथा अपभ्रंश भाषाओं के क्रम से प्राकृत व्याकरण अनुशासित है; उसमें सं. भू. कृ. रूपों के लिये जो व्यवस्था है, वह निम्नानुसार है,

**महाराष्ट्री प्राकृत:** सर्वप्रथम महाराष्ट्री प्राकृत के सं. भू कृदन्त रूपों का निर्देश करते हुए आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं कि संस्कृत 'क्त्वा' प्रत्यय के स्थान में प्राकृत में 'तुम्', 'अत्' 'तूण' तथा 'तुआण' ये चार आदेश होते हैं।<sup>2</sup> इन चारों के उदाहरण इस प्रकार हैं :

१. 'तुम्' आदेश का रूप- दट्टुं, मोत्तुं इत्यादि।
२. 'अत्' आदेश का रूप- भमिअ, रमिअ इत्यादि।
३. 'तूण' (या ऊण) आदेश का रूप -धेत्तूण, काऊण।
४. 'तुआण' (या उआण) आदेश का रूप-भोत्तुआण, सोउआण।

इनके अतिरिक्त हेमचन्द्राचार्य ने अन्य तीन रूपों का भी निर्देश दिया है। तद्यथा-

१. सं. 'क्त्वा' प्रत्यय के स्थान में (इ) तुम्' होकर पुनः 'म्' = अनुस्वार का लोप होकर 'वन्दित्तु' जैसे रूप भी बन सकते हैं।

२. सं. 'क्त्वा' के संयोजन से बनता 'वन्दित्वा' इस संस्कृत रूप में ही 'व्' का लोप होकर ('ता' बाकी रहकर) 'वन्दित्ता' जैसे रूप भी बन सकते हैं।

३. 'कट्टु' ऐसा आर्षरूप भी प्रचलित है।<sup>3</sup>

**शौरसेनी प्राकृत :** अब शौरसेनी में प्रयुक्त सं. भू कृदन्त शब्दों की व्यवस्था देखें तो, हेमचन्द्राचार्य का कहना है सं. क्त्वा प्रत्यय के स्थान में शौरसेनी में 'इय' और 'दूण' यह दो आदेश विकल्प से होते हैं।<sup>4</sup> तद्यथा सं.- 'भूत्वा' के स्थान में 'भविय' अथवा भोदूण। इसके साथ साथ उन्होंने यह भी सूचित किया है कि सं. 'भू' को जब 'हु' ऐसा आदेश हो जाता है, तब 'हविय' और 'होदूण' ऐसे दो रूप भी बनते हैं। यहां जो वैकल्पिक व्यवस्था दी गई है उसमें एक पक्ष में उपर्युक्तानुसार रूप बनते हैं, जबकि दूसरे पक्ष में कि जहां 'इय' या दूण प्रत्यय होते नहीं हैं, वहां सं. 'त्वा' के 'व' का लोप होकर 'भोत्ता', 'होत्ता' इत्यादि रूप भी बनते हैं।<sup>5</sup>

**मागधी और पैशाची :** मागधी के लिए श्रीहेमचन्द्राचार्य ने कोई विशेष बात नहीं कही। उनके अनुसार शौरसेनी एवं मागधी दोनों में सं. भू कृदन्त के रूप समान ही रहते हैं।<sup>6</sup> जबकि पैशाची में सं. 'क्त्वा' प्रत्यय के स्थान में 'तून' आदेश हो जाता है।<sup>7</sup> अतः वहां 'गन्तून', 'हसितून' इत्यादि रूप बनते हैं। चूलिका पैशाची में भी इसी= (पैशाची) की तरह रूप होते हैं।

**अपभ्रंश:** इसके बाद क्रम आता है अपभ्रंश का। प्रसिद्ध है कि श्री हेमचन्द्राचार्य ने अपभ्रंश का व्याकरण विस्तार से निरूपित किया है। सं. भू कृदन्त रूपों के लिए भी उन्होंने विस्तार से विचार किया है। उन्होंने सं. 'क्त्वा' प्रत्यय के स्थान में अनेक आदेश बताए हैं। तद्यथा- १. सं. 'क्त्वा' के स्थान में इ-इउ-इवि और अवि-ये चार आदेश होते हैं।<sup>8</sup> इन के

उदाहरण इस प्रकार हैं -इ=जइ, इउ=भज्जिउ, इवि= चुम्बिबि, अवि= विछोऽवि इत्यादि।  
२. सं. 'क्त्वा' के स्थान में अपभ्रंश में कभी कभी एप्पि-एप्पिणु-एवि-एविणु ये चार आदेश होते हैं।<sup>9</sup>

\* \* \* \* \*

इस प्रकार संस्कृत क्त्वा प्रत्यय के विभिन्न प्राकृत भाषाओं में एकाधिक प्रत्यय अनुशासित किये गये हैं। इस परिप्रेक्ष्य में भास के द्वारा उनकी कृतियों में प्रयुक्त सम्बन्धक भूतकृदन्त रूपों की परीक्षा करने पर जो तथ्य सामने आते हैं; वे निम्न प्रकार से हैं।

भास की सभी कृतियों में प्रायः सं. क्त्वा>त्वा प्रत्यय के स्थान में 'इअ' का प्रयोग मिलता है। जैसे - श्रुत्वा का सुणिअ, दृष्ट्वा का देक्खिअ, भणित्वा का भणिअ इत्यादि। परन्तु इनमें कुछ ऐसे भी प्रयोग प्राप्त हो रहे हैं, जो ध्यातव्य हैं या विचारणीय हैं। तद्यथा- प्राकृत व्याकरणकारों ने 'गम्' धातु के सं. भू. कृदन्त के दो रूपों का प्रचलन मान्य किया है : 'गच्छिअ' तथा 'गदुअ'।<sup>10</sup> भास में इन दोनों रूपों का प्रयोग मिल रहा है। 'गच्छिअ' का प्रयोग लगभग सात बार हुआ है, परन्तु अविमारकम् में मात्र एक बार 'गम् का 'गदुअ' रूप प्रयुक्त हैं।<sup>11</sup>

इसी सन्दर्भ में यह भी ध्यान देने की बात है कि प्राकृत व्याकरणकारों ने 'गम्' की तरह 'कृ' के भी दो रूपों का प्रचलन मान्य किया है- 'करिअ' और 'कदुअ'।<sup>12</sup> भास में सर्वत्र करिअ इसी रूप का प्रयोग मिल रहा है, कदुअ' रूप का एक भी बार प्रयोग नहीं मिलता।<sup>13</sup> इसी प्रकार 'भू' धातु का सभी स्थलों में एक जैसा रूप 'भविअ' प्रयुक्त हुआ है।<sup>14</sup>

'दा' धातु का एक विशेष रूप भास में प्रयुक्त हुआ है; जो ध्यातव्य है। सामान्यतः 'दा' का सं. भू. कृदन्त रूप 'दइअ' है; जिसका भास में दो बार प्रयोग किया गया है।<sup>15</sup> परन्तु एक बार चारुदत्त में संवाहक की उक्ति में 'दय्य' ऐसा विशिष्ट प्रयोग भी दृष्टिगोचर होता है।<sup>16</sup> इस प्रयोग की सम्मति प्राकृत व्याकरणों से मिलती नहीं है। इस स्थिति में यह प्रश्न होना स्वाभाविक ही है कि यह रूप आया कहाँ से? हमारे विचार से यह 'दइय' का परवर्तित रूप होना चाहिए और यह परिवर्तन दइअ>दइय>दय्य इस प्रकार उच्चारण भेद से हो गया होगा।

एक अन्य प्रयोग भी इसी तरह ध्यान देने योग्य है। पा=पिब् का रूप यद्यपि 'पिबिअ' है, और उसका प्रयोग भास में, चारुदत्त में दो बार उपलब्ध होता है; परन्तु बालचरित में एक बार 'पिबिअ'<sup>17</sup> और एक बार 'पादूणं' ऐसा रूपवैविध्य मिलता है।<sup>18</sup> संस्कृत में 'पा' धातु कई स्थानों में 'पिब्' रूप लेता है; उसका 'पिबिअ' रूप ठीक ही है। परन्तु उक्त 'पादूणं' में खास बात यह है कि यहां 'दूण' प्रत्यय का जो प्रयोग हुआ है, वह सं. भू. कृदन्त का परवर्ती रूप है। 'पा' धातु के साथ संलग्न होकर बना यह रूप विचित्र भी है।

**कुछ चिन्त्य प्रयोग :** भासनाटक चक्र में सं. भू. कृदन्त के रूपों में वैविध्य देखा, अब कुछ चिन्त्य लगने वाले प्रयोगों की ओर भी ध्यानाकर्षित किया जाता है। तद्यथा- (क) 'आ+गम्' का 'आअमिअ'। भास में यद्यपि सं. 'गम्' का सं. भू. कृ. रूप 'गमिअ' प्रयुक्त हुआ है, पर 'आ+गम्' के 'आअच्छिअ' प्रयोग भी उपलब्ध होते हैं। ये प्रयोग स्वप्नवासवदत्तम् में विदूषक ने किये हैं। उधर प्रतिज्ञायौगन्धरायण में हंसक की एक उक्ति में 'आ अमिअ' यह रूप मिल रहा है।<sup>19</sup> संभवतः यह संस्कृत 'गम्' का रूप है, पर सं. 'गम्' का तो उक्त 'आ अच्छिअ' रूप भी यहां प्रयुक्त हुआ है। तब क्या यह रूप वैविध्य ही है, ऐसा कहें? परन्तु ऐसा कहने पर संस्कृत छाया तो (आ+गम्' के सं. भू. कृ. का रूप: 'आगत्य' होनी चाहिए, जबकि यहां पर तो संस्कृत छाया भी आगम्य<sup>20</sup> दी गई है, जो चिन्त्य है।

(ख) इसी प्रकार भास की कृतियों में सं. 'श्रुत्वा' के लिए प्रायः सर्वत्र 'सुणिअ' का प्रयोग मिलता है; जो उचित ही है। परन्तु बालचरित में मात्र एक ही स्थान पर यह रूप मिलता है और वह 'षुणिअ' इस रूप में है। सभी प्राकृतों में ऐसा कोई नियम नहीं दिखाई देता कि जहां आरंभ में मूर्धन्य का प्रयोग किया जाना कहा गया हो। हां, अशोक के शिलालेखों में आरम्भ में तीनों प्रकार के= श, ष.स के प्रयोग मिलते हैं। यहां नाटक का प्रयोग होने से आम बोली के कारण भी ऐसा हुआ हो, तो आश्चर्य नहीं है। या संभव है कि यह सम्पादकों का अनवधानतया दोष रह गया हो।<sup>21</sup>

(ग) ऐसा ही एक प्रयोग 'कृ' धातु का है 'कळिअ'। भास में प्रायः सर्वत्र 'करिय' इसी प्रसिद्ध रूप का प्रयोग है; परन्तु उक्तरूप बालचरित में वृद्धगोपालक की उक्ति में आया है।<sup>22</sup> क्या यह कोई प्राचीन रूप है? या अन्यत्र बालचरित में ही 'र' का 'ळ' किया गया है, वैसे यहां पर भी 'करिअ' का 'कळिय' किया गया है? यह विचारणीय है। (मागधी में कभी-कभी 'र' का 'ल' होता है। प्राचीन संस्कृत में मिलने वाला यह 'ळ' यहां सुरक्षित रहा हो यह भी संभव है।)

इस प्रकार भासनाटकचक्र में प्राकृत के सं. भू. कृदन्त रूपों में कुछ चिन्त्य प्रयोग भी दिखाई देते हैं। उनका कारण विचारणीय है। विद्वानों का इस ओर ध्यान आकृष्ट किया जाता है।

एक और विचित्र बात, जिस पर आश्चर्य होना स्वाभाविक ही लगता है, हमारे ध्यान में आई है। भासनाटकचक्र के टी. गणपतिशास्त्री एवं प्रो. देवधर के संस्करण में प्राकृत के 'पेक्खिअ' रूप की संस्कृत छाया 'दृष्ट्वा' दी गई है। ऐसा भासनाटकचक्र के प्रारंभ भाग में है। समग्र प्रयोग १६ बार हुए हैं, उनमें प्रारंभ में ६ बार 'दृष्ट्वा' और बाद में १० बार 'प्रेक्ष्य' यह संस्कृत छाया दी गई है। इस सन्दर्भ में प्राकृतव्याकरणकारों का मत भी स्मरण हो आता है। वे 'दृश्' इस सं. धातु के विभिन्न आदेश बताते हुए एक 'पेच्छ' ऐसा आदेश भी बताते हैं।<sup>23</sup>

अर्थात् 'पेक्खिअ' को सं. 'प्र+इक्ष्' में से न मानकर दृश् के आदेशभूत 'पेच्छ्' का रूप मानने को कहते हैं<sup>१४</sup> इसके अनुसार भास के प्रयोगों में यदि 'पेक्खिअ' का दृष्ट्वा किया गया है, तो वह ठीक हो सकता है। इस पर भी यह आश्चर्यकारक तो है ही कि मात्र छः बार ही ऐसा क्यों किया गया? बाद में दस प्रयोगों में 'पेक्खिअ' का 'प्रेक्ष्य' देकर पूर्व की परंपरा को क्यों चालू रखा नहीं गया? यह प्रश्न रहता है।

अन्त में यही कहना है कि भास में संबंधक भूकृदन्त के रूपों में बहुत सी अनियमितता हैं; और कुछ चिन्त्य प्रयोग भी हैं या यह कह सकते हैं कि अनेक प्रकार के प्रयोग बोलियों में प्रचलित रहे होंगे, परन्तु व्याकरण में उनका समावेश नहीं हुआ। इस दृष्टि से भी इन रूपों का अध्ययन करने की आवश्यकता है। विद्वज्जनों का इस ओर ध्यान आकर्षित किया जाता है।

### संदर्भ :

- \* प्राकृत एवं जैनेलोजी के नेशनल सेमिनार में (दिनांक:- १०-१२ मार्च १७) संस्कृत विभाग, उत्तरगुजरात युनि., पाटण में पठित लेख।
- १. द्रष्टव्य - "प्राकृत भाषाओं का व्याकरण", ले. आर. पिशाल (हिन्दी अनुवाद), प्रका. बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, सन् १९५८; पृ. ८२१
- २. 'क्त्वस्तुमनूण-तुआणाः - प्राकृतव्याकरणम् (प्रा. व्या.) २, १४६ सं. वैद्य पी.एल, प्रका. बोम्बे संस्कृत एण्ड प्राकृत सीरीज, मुंबई, परिवर्धित संस्करण, सन्- १९५८; पृ. ४९०
- ३. 'वन्दित्तु' इत्यनुस्वारलोपात्। 'वन्दित्ता' इति सिद्धसंस्कृतस्यैव वलोपेन। 'कट्टु' इति तु आर्षे ॥  
**प्रा. व्या., तत्रैव (पृ. ४९०)**
- ४. 'क्त्व इय-दूणौ।' - प्रा. व्या., ४.२७१ उधर वररुचि के 'प्राकृतप्रकाश' में शौरसेनी प्राकृत के लिए 'क्त्व इअः' (१२.९) सूत्र है। इससे स. भू. कृ. रूपों के लिए सं. 'क्त्वा'; के स्थान में 'इअ' आदेश होना कहा गया है। द्रष्टव्य—प्राकृत प्रकाश, सं. कमला-शंकर प्रा. त्रिवेदी, नवसारी-गुजरात, सन् १९५७; पृ. १७३।
- ५. 'पक्षे-भोत्ता', 'होत्ता'। प्रा. व्या., प्रकाशिका स्वोपज्ञवृत्ति, तत्रैव; पृ. ५७७ (४.२७१)।
- ६. 'शेषं शौरसेनीवत् ॥' प्रा. व्या. ४.३०२ पर प्रकाशिका-स्वोपज्ञवृत्ति में, तत्रैव, पृ. ५८३ उधर 'प्राकृतप्रकाश' में मागधी के लिए 'क्त्वा' के स्थान पर 'दाणि' आदेश का विधान किया गया है।  
'क्त्वो दाणिः।' ११.१६ (तत्रैव, पृ. १७२)
- ७. 'क्त्वस्तूनः।' प्रा. व्या., ४.३१२ (सूत्रार्थः- पैशाच्यां क्त्वाप्रत्ययस्य स्थाने तून इत्यादेशो भवति। गन्तून। रन्तून। हसितून। पठितून। कथितून) **तत्रैव**
- ८. 'क्त्व' इ-इउ-इवि-अवयः ॥ प्रा. व्या. ४-४३९ (सूत्रार्थः- अपभ्रंशे क्त्वाप्रत्ययस्य इ-इउ-इवि-अवि इत्येते चत्वार आदेशाः भवन्ति।) **तत्रैव.**
- ९. 'एष्येष्पिण्वेव्येविणवः ॥' प्रा. व्या., ४-४४० [सूत्रार्थः- अपभ्रंशे क्त्वाप्रत्ययस्य एष्पि-एष्पिणु-एवि-एविणु इत्येते चत्वार आदेशाः भवन्ति।] **तत्रैव**

१०. 'कृ-गमो डडुअः' प्रा.व्या. ४.२७२[सूत्रार्थः आभ्यां परस्य क्त्वाप्रत्ययस्य डित् अडुअ इत्यादेशो वा भवति।] तत्रैव। इस सूत्र के अनुसार 'कडुअ' रूप होना चाहिए। परन्तु विक्रमोर्वशीय में 'कदुअ' ऐसा प्रयोग है॥ देखें, पाद टिप्पण १३
११. द्रष्टव्य :- मागधिका हळा! गदुअ जाणामि। अविमारकम्, तृतीय अंक प्रारम्भ में, पृ. ३६ [देवधर आवृत्ति में, पृ. १३३, पंक्ति-३०]
१२. द्रष्टव्य, प्रा. व्या. ४.२७२ (कहीं कहीं 'कडुअ' है।)
१३. उधर कालिदासकी कृतियों में आजकल विचित्र परिस्थिति है। आर. पिशल सभी स्थानों में 'कदुअ' इस रूप की संभावना करते हैं, [देखें- 'प्राकृतभाषाओं का व्याकरण' ले. आर. पिशल; अनु. जे. हेमचन्द्र जोशी, प्रका. बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, सन् 1958] जब कि प्रो. रेवाप्रसाद द्विवेदी आदि के संस्करणों में छः बार 'करिअ' इस रूप का प्रयोग है; जबकि एक बार 'कदुअ' का प्रयोग है। यह प्रयोग विक्रमोर्वशीय में चेटी की उक्ति में मिलता है। तद्यथा "चेटी-आणत्तम्हि देवीए कासिरा अदुहिदाए जधा-हंजे णिउणिए जदो पहुदि भअदो सुज्जस्य उअत्यानं कदुअ पडिणित्तो अज्जउत्तो तदो पहुदि सुण्णहिअओ विअ लक्खीअदि ...। [विक्रमोर्वशीयम्; अंक-2 प्रवेशक, उक्ति-५, पृ. ४४८ कालिदासग्रन्थावलि, सं. रेवाप्रसाद द्विवेदी, प्रका. बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी, वाराणसी, परि. संस्करण, सन् १९८६]
१४. उधर कालिदास की कृतियों में भी प्रायः सर्वत्र 'भू' धातु का 'भविअ' यही रूप प्रयुक्त है। परन्तु 'मालविकाग्निमित्रम्' में विदूषक की एक उक्ति में 'हविअ' ऐसा भी एक रूप मिलता है। यहां ध्यान देने की बात यह है कि 'भू' के स्थान में "हू" का प्रयोग/आदेश परवर्ती माना जाता है। विदूषक की उक्ति इस प्रकार है- "विदूषकः- गहीदक्खणोम्हि।.. ता अणादुरो हविअ कज्जसिद्धिं पत्थन्तो मे रोअसि।" [मालविकाग्निमित्रम्, अंक-२ अन्त भाग में, कालिदासग्रन्थावलि, पृ. ३५५ उक्ति-४
१५. द्रष्टव्यः १. प्रतिमानाटकम्, अंक-२, श्लोक ७ के बाद 'देवी' की उक्ति में; पृ. 76, पं. 6 (देवधर आवृत्ति, द्वितीय संस्करण) 2 चारुदत्तम्, अंक-३, श्लोक-के बाद, 'चेटी' की उक्ति में, पृ. २३४, पं. २७ (देवधर आवृत्ति)
१६. द्रष्टव्य :- संवाहक - आइदिमन्तो अविब्भन्तो अणुच्छित्तो.. आइदो तुट्ठो होदि। दय्य ण विकत्थेदि।... 0॥ चारुदत्तम्, अंक -२ पृ. २१७, प. १२० (देवधर आवृत्ति)
- १७ वृद्धगोपालकः- हा भट्टा! एषो कण्णआहि वाळिअमाणो जमुणाहळं पविट्ठो। मा खु मा खु षाहषं कलिअ पविषिदुं... एत्थ वग्धा वराहा हत्थिणो पाणीअं पिबिअ तहिं तहिं एव्व विमरंति। ... 0। - बालचरितम्, अं. ४, श्लो.४ (देवधर आवृत्ति, पृ.५४५, प. ५)
- १८ वृ.गो.-भो मेघदिण्ण! क्खु. बषभदिण्ण!... एदेष्णिं वुन्दावणे पकामं पानीअं पाइणं हुम्भारवं करन्तो आअन्तु गोधणं।... 0॥ - बालचरितम्, अं.३ (देवधर आवृत्ति, पृ. ५३४, पृ.५)
१९. हंसकः-तदो भट्टिणा ओदरिअ अस्सादो आअमिअ देवदाणं पणामं करिअ गहीदा वीणा।... 0 ॥ प्रतिज्ञायौगन्धरायणम्, अंक-१, श्लोक-६ के बाद (देवधर आवृत्ति, पृ. ६३, पं. ६७)
२०. द्रष्टव्य- सन्दर्भित उक्ति की संस्कृत छाया।

२१. सम्पादकों की अनवधानता का एक और उदाहरण 'अभणिअ' प्रयोग भी है। टी. गणपति शास्त्री के 'स्वप्नवासवदत्तम्' के संस्करण में भूल से 'अभिणिअ' छपा है, (देखें- स्वप्न. पृ. २४ पद्मावती की उक्ति) उसी प्रकार श्री देवधर के संस्कार में भी यह चालू रहा है, (देखे, स्वप्न. पृ. २४ पं. १०४) जो कि अशुद्ध ही है। 'अभणिअ' इस प्रकार का रूप होना चाहिए। बाद में कुछ संस्करणों में ठीक कर लिया गया है।
२२. वृ.गो.-हा भट्टा! एषो कण्णआहि वाळिअमाणो जमुणाहळं पविट्टो। मा खु मा खु षाहषं कळिअ पविषिटुं।.... ० ॥ बालचरितम्, अंक-४, आरंभ में श्लोक-४ के बाद।
२३. दृशो निअच्छापेच्छावयच्छावयज्झ-वज्ज-सव्वव-देक्खौ-अक्खावक्खावअक्ख-पुलोअ-पुलअ-निआवआस-पासाः ॥'' प्रा.व्या., तत्रैव ४.१८३ (पृ. ५६३)।
२४. यद्यपि उक्तसूत्र में 'पेच्छ' ऐसा आदेश है; अतः उस आदेश का 'पेच्छिअ' यह रूप होना चाहिए; पर ध्वनि परिवर्तन हो गया होगा, ऐसा मान कर यह संभावना की है।

रीडर, संस्कृत विभाग

भाषा साहित्य भवन

गुजरात यूनीवर्सिटी, अहमदाबाद

□□□



## भूगोल

# क्या दृषद्वती नदी ही गंगा थी?

वेद प्रकाश गर्ग

प्राचीन समय में सरस्वती नदी अपनी विशाल जल-राशि के साथ कुरुक्षेत्र के सन्निवेश में प्रवाहित होती थी। यह वेदकालीन नदी थी। ऋग्वेद में इसका पर्याप्त उल्लेख हुआ है। इस पवित्र नदी का उद्गम नाहन की पहाड़ियों के ऊपरी भाग से हुआ है और इस उद्गम-स्थल को 'प्लक्ष प्रस्रवण' कहा गया है।<sup>1</sup> यह अपने समय की प्रधान नदी रही है। किसी समय यह नदी सीधी समुद्र में जाकर मिलती थी।<sup>2</sup> सरस्वती नदी का जिस समुद्र के साथ संगम होता था, वह पश्चिमी समुद्र था<sup>3</sup> और जिस स्थान पर यह मिलती थी, उसे 'विनशन' कहा गया है।

यह पश्चिम-समुद्र कौन-सा था और विनशन की स्थिति कहां थी? इन तथ्यों पर जब विचार करते हैं, तो ज्ञात होता है कि उस समय जबकि सरस्वती की जलधारा निरन्तर प्रवाहित हो रही थी, वर्तमान राजपूताने का पश्चिमोत्तरी भाग समुद्र-सलिल से आच्छादित था। विशेषज्ञ विद्वानों ने इस बात का निर्णय किया है कि सहस्रों सदियों पूर्व राजस्थान में द्रुमकुल्य नामक समुद्र था। इस प्रदेश में कभी समुद्र होने के अनेक चिह्न आज भी प्राप्त होते हैं।<sup>4</sup> इतना बड़ा मरु प्रदेश समुद्र जल के हट जाने से ही बाहर निकल आया है। भूमि तल की विषमता, ऊबड़-खाबड़पना जगह-जगह पर काली-पीली-मिट्टी और चट्टानों के स्तर, सामुद्रिक वस्तुओं के अवशिष्ट चिह्न, खारी झीलों का स्थान-स्थान पर उपलब्ध होना इस बात के प्रमाण हैं। डॉ. संपूर्णानन्द भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं।<sup>5</sup>

किसी समय प्रबल प्राकृतिक उथल-पुथल (भूकम्प आदि) के कारणों से ऐसा परिवर्तन हुआ। यदि आज सामुद्रिक चिह्नों के आधार पर इस बात को परखने का प्रयत्न किया जाए कि समुद्र की सीमा कहां तक रही होगी, तो बहुत स्पष्ट रूप से इस बात को समझा जा सकता है कि वर्तमान पाकिस्तान की भू. पू. बहावलपुर - रियासत, राजस्थान का बीकानेर-प्रदेश, इससे उत्तर-पूर्व की ओर से पंजाब के जिलों का अधिकांश भाग उस समय के समुद्र का पश्चिमी-उत्तरी तथा उत्तरी-पूर्वी तट का भाग रहा होगा। किसी प्रबल प्राकृतिक परिवर्तन से एक साथ ही इन दोनों- राजस्थानीय समुद्र और सरस्वती नदी का लोप हुआ, इस अर्थ पर प्रकाश डालने वाले संकेत प्राचीन भारतीय साहित्य में उपलब्ध होते हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि किसी भयंकर भूकम्प आदि के प्रभाव से समीप के समुद्र में प्रबल ज्वार आया और उसका जल ऊंची पर्वत श्रेणियों की तलहटी तक पहुंचा, अनन्तर जब उसमें ज्वार भाटा आया, तो वह उन प्रदेशों को छोड़ता हुआ अपने वास्तविक स्थान को भी छोड़ गया। वे प्रदेश इतने उथल-पुथल हो गए कि वहां जल का रुका रहना संभव न रहा। इस प्रकार वर्तमान राजस्थान का प्रदेश समुद्र के स्थान पर शुष्क मरुभूमि के रूप में रह गया और साथ ही इस उथल-पुथल से सरस्वती का स्रोत भी सदा के लिए अवरुद्ध हो गया। ऐसे तीव्र भौगोलिक परिवर्तन से पूर्व सरस्वती नदी निरन्तर प्रवाहित रही और वर्तमान राजस्थान के उत्तरी-पश्चिमी भाग के समुद्र तट में ही कहीं आकर मिलती रही। इस मिलने के स्थान का नाम 'विनशन' लिखा मिलता है।<sup>१</sup> महाभारत में भी इस स्थान का उल्लेख है<sup>२</sup> और इससे आगे सरस्वती के प्रवाह के कोई चिह्न उपलब्ध नहीं होते हैं। वास्तव में यह मरु पृष्ठ पर सरस्वती के अदर्शन का स्थान है।<sup>३</sup>

'विनशन' का उल्लेख वैदिक-साहित्य में भी उपलब्ध होता है। ताण्ड्य महाब्राह्मण (२५/१०/१२-२३), कात्यायन श्रौत सूत्र (२४/६/३०-३६) और लाट्यायन श्रौत सूत्र (१०/१९/४) में सारस्वत एवं दार्षद्वत नामक सत्रों के अन्तर्गत इसका नाम मिलता है। महाभाष्य २/४/१०/६.३.१०९) में 'विनशन' का अन्य नाम 'अदर्श' अथवा 'अदर्शन' भी उपलब्ध होता है।

कुरुक्षेत्र की प्रधान नदी सरस्वती की सहचारिणी अन्य नदी 'दृषद्वती' रही है। महाभारत के (वन पर्व-८१/४, २०४) के श्लोकों के अनुसार यह नदी सरस्वती से पूर्व-दक्षिण की ओर प्रवाहित होती थी। इस बात की पुष्टि ब्राह्मण ग्रंथ एवं श्रौत सूत्रों के वर्णन से भी होती है। उनमें वहां सारस्वत तथा दार्षद्वत सूत्रों के अन्तर्गत उल्लेख है कि सत्रयाजी व्यक्ति विनशन<sup>४</sup> में दीक्षित होकर सरस्वती के दक्षिण (दाएं) तट पर उसके उद्गम की ओर चले। सरस्वती-दृषद्वती का संगम आने पर संगम से ऊपर की ओर सरस्वती को पार करके दृषद्वती के दक्षिण

(दाएं) तट पर पहुंचे। पार करने के पूर्व ही संतरण के दोषों से बचने के लिए अपोनत्रिय (अपोनपात् देवता के उद्देश्य से) चरु देवे और पार होकर वहीं से अष्टाकपाल पुरोडाश के द्वारा आग्नेय इष्टि का प्रारम्भ करे। पुनः दृषद्वती के दाएं तट पर ऊपर की ओर चलता हुआ उसके उद्गम-स्थान पर पहुंचे। वहां से नदी पार किए बिना ही यमुना के उद्गम-स्थल 'त्रिप्लक्ष अवहरण' में पहुंचे और वहां 'अवभृथ' का अनुष्ठान करे। वहां से सरस्वती के उद्गम स्थान 'प्लक्ष प्रास्रवण' में जाकर अष्टाकपाल पुरोडाश से आग्नेय इष्टि को सम्पन्न करे। तत्पश्चात् वहां से सरस्वती के दाएं तट पर धारा के साथ-साथ नीचे की ओर दृषद्वती के संगम पर पहुंच कर सत्र को संपूर्ण करे। यह यात्रा विनशन पर वापस आकर ही समाप्त होती थी।

इस वर्णन में यज्ञिय अंश को छोड़ कर यदि देखें तो शेष वर्णन से दोनों नदियों की भौगोलिक स्थिति का ज्ञान होता है। सारस्वत और दार्षद्वत सत्र वस्तुतः सरस्वती और दृषद्वती नदियों की समस्त परिक्रमा रूप है। अतः इस प्रसंग से ज्ञात होता है कि सरस्वती नदी के दक्षिण-पूर्व में ही दृषद्वती की स्थिति थी, क्योंकि सरस्वती-दृषद्वती के संगम के ऊपर सरस्वती के दक्षिण तट से बाएं तट की ओर पार होकर दृषद्वती के दाएं तट पर पहुंचना इस बात को सिद्ध करता है कि सरस्वती के पूर्व-दक्षिण की ओर ही दृषद्वती थी। इन दोनों नदियों का मध्य भाग मनुस्मृति (२/१७) के अनुसार 'ब्रह्मावर्त' कहलाता था।<sup>१०(क)</sup> सरस्वती के दक्षिण में और दृषद्वती के उत्तर में ब्रह्मावर्त के अन्तर्गत ही परम पवित्र कुरुक्षेत्र का धर्म क्षेत्र (प्रदेश) था।<sup>१०</sup>

सम्प्रति इस नदी दृषद्वती की सही पहचान संदिग्ध बनी हुई है। श्री नन्दलाल डे महोदय तथा उसी को प्रमाण मान कर कतिपय अन्य विद्वानों ने भी वर्तमान 'घग्गर' नदी को दृषद्वती माना है,<sup>११</sup> किन्तु यह समीकरण सर्वथा अशुद्ध है, क्योंकि वर्तमान घग्गर नदी की स्थिति सरस्वती से पश्चिम की ओर है और वह पश्चिम से आकर सरस्वती के दाएं किनारे से मिलती है। घग्गर का प्राचीन नाम हिरणवती था।<sup>१२</sup> दृषद्वती की सही स्थिति का ज्ञान उपर्युक्त वर्णित सारस्वत एवं दार्षद्वत सत्रों के उल्लेखों से पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है। वह सरस्वती से दक्षिण पूर्व की दिशा में थी। अतः घग्गर को दृषद्वती नहीं माना जा सकता। वस्तुतः दृषद्वती आज की अंबाला जिले में बहने वाली चितांग नदी है, जो सरस्वती के समानान्तर प्रवाहित होती है। रैप्सन ने इसे चितांग से ही समीकृत किया है<sup>१३</sup> जो सही है। प्राचीन समय में यही दृषद्वती (चितांग) शरावती के रूप में उदीच्य एवं प्राच्य देश भागों की विभाजक रेखा मान्य थी।<sup>१४</sup>

दृषद्वती के संबंध में किए गए एक अन्य समीकरण पर विचार अपेक्षित है, जिसकी उद्भावना विद्याभास्कर आचार्य उदयवीर शास्त्रीजी ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'सांख्य दर्शन का

इतिहास' में की है। शास्त्री जी की धारणा है कि वर्तमान गंगा का ही दूसरा नाम दृषद्वती था अर्थात् दृषद्वती, गंगा का अपर नाम है। अपनी इस धारणा के संबंध में उन्हें जो आधार उपलब्ध हुए हैं, उनका उल्लेख उन्होंने उक्त इतिहास ग्रंथ में किया है।<sup>14</sup> इन आधारों पर आगे क्रमशः विचार किया जा रहा है। इस धारणा का उल्लेख 'सरस्वती' विषयक एक लेख में भी किया गया है।<sup>15</sup>

शास्त्रीजी के विचारानुसार सरस्वती के प्रवाह-समय अर्थात् सरस्वती के स्रोत अवरुद्ध होने से पूर्व जब वह अपनी संपूर्ण जल-राशि के साथ प्रवाहित थी, तो गंगा और यमुना भी उसकी सहायक नदियां थी। बाएं अर्थात् पूर्व की ओर के तट में ये दोनों नदियां अलग-अलग सरस्वती में आकर मिल जाती थीं। सरस्वती-प्रदेश के उथल-पुथल हो जाने पर गंगा, यमुना का पश्चिम की ओर प्रवाह असंभव हो गया और तब भौगोलिक स्थिति के अनुसार गंगा, यमुना का प्रवाह पूर्व की ओर हो गया।<sup>16</sup>

वास्तव में शास्त्रीजी की इस धारणा का मूल आधार यजुर्वेद का एक मंत्र (३४/११) है। इस मंत्र के आधार पर विद्वानों ने यह माना है कि सरस्वती में पांच अन्य नदियां मिलती थीं। किन्तु यजुर्वेद या अन्यत्र कहीं भी उन पांच नदियों के नामों का संकेत नहीं मिलता, इसीलिए उनके नामों के संबंध में विद्वानों के अलग-अलग मत बन गए हैं। श्री अविनाशचन्द्रदास ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'ऋग्वैदिक इंडिया' में लिखा है कि उस काल में पंजाब की शतुद्र आदि प्रसिद्ध पांच नदियां सरस्वती में मिलती थीं, किन्तु ये पांचों नदियां सरस्वती के पश्चिम में अर्थात् एक ही दाएं तट की ओर बहने वाली नदियां हैं जिससे यह संभव प्रतीत नहीं होता कि किसी नदी में सारी सहायक नदियां एक ही ओर से आकर मिलें। संभवतः एक भी उदाहरण ऐसा नहीं मिलेगा। स्वभावतः दोनों तटों से न्यूनाधिक जल-प्रवाह किसी भी नदी में आकर मिलते हैं। अतः सरस्वती में भी दोनों ओर से नदियां आकर मिलती होंगी, किन्तु वे कौन-सी नदियां हैं, यही विचारणीय है।

आचार्यजी ने भी इस संबंध में विचार करते हुए अनुमान किया है कि मुख्य नदी सरस्वती में पूर्व की ओर से तो गंगा-यमुना सीधी अलग-अलग मिलती थीं और पश्चिम की ओर से शतुद्रि (सतलज) व विपाश (व्यास) का मिलन होता था। अन्य पांचवीं उसकी सहायक नदी संभवतः 'आपया' थी, जिसका उल्लेख ऋग्वेद की एक ऋचा (३/२३/४) में सरस्वती एवं दृषद्वती के साथ हुआ है। 'आपया' को शास्त्री जी ने सरस्वती में पश्चिम की ओर से मिलने वाली 'घग्घर' नदी माना है, क्योंकि आपया पद का अर्थ है- थोड़े जलवाली और घग्घर भी अति प्राचीन काल से थोड़े जलवाली नदी रही है।<sup>17</sup> इस कारण उन्होंने इस

समीकरण को सही माना है। किन्तु यह समीकरण ठीक नहीं है। यह 'आपया' नदी कुरुक्षेत्र की नौ नदियों में से एक है।<sup>१९</sup> महाभारत में भी इसका नाम 'आपया' दिया है, जो मानुषतीर्थ से पूर्व एक कोस की दूरी पर थी।<sup>२०</sup> यह सिद्ध आत्माओं से सेवित थी। हिरण्वती (घघर) की गणना उक्त नौ नदियों में अलग से हुई है। अतः आपया घघर नहीं है। आपया, सरस्वती एवं दृषद्वती के मध्य बहने वाली एक छोटी नदी थी।

शास्त्री जी ने सरस्वती की पांच सहायक नदियों को खोज निकालने के लिए ऋग्वेद में नदी सूक्त की एक ऋचा का सहारा भी लिया है। ऋचा इस प्रकार है—

इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्या।

असिक्न्या मरुद्वृद्धे वितस्तयाऽऽर्जीकीये शृणुत्या सुषोमया ॥ (१०/७५/५)

उनके विचार में इस ऋचा में आठ नदियों का उल्लेख हुआ है। जिसमें पांच नदियों का निर्देश संबुद्ध्यन्त रूप में अर्थात् संबोधन के एक वचन रूप में निर्दिष्ट है और शेष तीन तृतीया विभक्ति के साथ निर्दिष्ट हैं। संबोधन रूप में निर्दिष्ट नदियों का जो क्रम ऋचा में है, ठीक वही क्रम पूर्व से पश्चिम की ओर भूतल पर स्थित नदियों का है। इनमें सरस्वती मुख्य नदी है। उसमें पूर्व की ओर से गंगा और यमुना मिलती है और पश्चिम की ओर से शुतुद्रि (सतलज) और आर्जीकीया<sup>२१</sup> (विपाश=व्यास) मिलती है। तृतीया विभक्ति से निर्दिष्ट शेष तीन नदियों—परुष्या (रावी) असिक्नी (चिनाब), वितस्ता (झेलम) का क्रम पूर्व से पश्चिम की ओर बहने का है। उनकी अप्रधानता दिखलाने के लिए ही तृतीया विभक्ति का निर्देश किया गया है। ऋचा में 'मरुद्वृद्धे' पद संबोधन रूप में निर्दिष्ट प्रत्येक नदी का विशेषण है।<sup>२२</sup> किन्तु यह सब विचारणा कल्पना प्रसूत और सायास प्रयास है, जो कुछ भ्रमों पर आधारित है। अतः शास्त्री जी के उक्त विचारों से सहमत होना संभव नहीं है।

यथार्थतः ऋचा में अन्य नदियों का सरस्वती में मिलने का कथन न होकर तत्कालीन भू-प्रदेश की नदियों का सामान्य कथन मात्र है। इस ५वें मन्त्र में मात्र सिन्धु के पूर्वी तट की नदियों के नाम क्रमशः आए हैं और छठे मंत्र में सिन्धु तथा उसकी पश्चिम सीमा वाली नदियों के नाम हैं। साथ ही यह भी ध्यातव्य है कि इस ऋचा में आठ नदियों का उल्लेख न होकर दस नदियों का उल्लेख है, जिनमें छह नदियों का निर्देश तो संबोधन के एक वचनरूप में हुआ है और चार का उल्लेख तृतीया विभक्ति में हुआ है। शास्त्री जी ने इनमें से 'मरुद्वृद्धे' को संबोधन रूप में प्रत्येक नदी का विशेषण मान लिया है, जो सही नहीं है। वास्तव में यह एक स्वतंत्र नदी है, जो असिक्नी (चिनाब) और वितस्ता (झेलम) के बीच बहने वाली नदी है। यह चिनाब की 'मरुवर्दन' नाम की सहायक नदी है।<sup>२३</sup> सर अरल स्टाइन का भी यही मत

है। ऋचा में आये पद 'सुषोमा' का उल्लेख शास्त्री जी ने नहीं किया है। यह भी एक स्वतंत्र नदी है जो सिंधु की एक पूर्वी सहायक नदी है। वर्तमान में इसका नाम 'सोहान' है।<sup>123</sup> इस प्रकार शास्त्रीजी की धारणा की संपुष्टि में यह ऋचा किसी रूप में भी सहायक नहीं है।

शास्त्रीजी ने गंगा का दृषद्वती<sup>124</sup> नाम होने में अपने इतिहास ग्रंथ में पांच प्रमाण दिए हैं, जो इस प्रकार हैं-

1. महाभारत में वर्णन आता है कि युद्धोपरान्त जब युधिष्ठिर अपने बंधुओं सहित हस्तिनापुर जाकर राज्य-भार संभाल लेते हैं, तब कृष्ण की प्रेरणा से युधिष्ठिर शरशायी भीष्म के पास राजधर्म का उपदेश लेने के लिए अपने भाइयों तथा कृष्ण के साथ कुरुक्षेत्र जाते हैं। ये सब व्यक्ति उसी दिन सायंकाल को हस्तिनापुर वापस आ जाते हैं। अगले दिन प्रातः काल पुनः भीष्म के पास उपदेश लेने जाते हैं। उसी दिन सूर्यास्त से पूर्व पुनः वापसी पर सब व्यक्तियों का दृषद्वती में स्नान करने और संध्योपासना आदि के अनन्तर हस्तिनापुर-प्रवेश करने का उल्लेख है।<sup>125</sup>

इस संबंध में शास्त्री जी का विचार है कि वर्णन के अनुसार भीष्म के समीप से चल देने के अनन्तर हस्तिनापुर के समीप आकर वे सब लोग दृषद्वती में स्नान आदि करते हैं। यात्रा की थकावट को दूर करने के लिए निवास के समीप आकर स्नान करना उचित ही प्रतीत होता है। इससे यह धारणा दृढ़ होती है कि हस्तिनापुर के समीप ही कहीं दृषद्वती नदी होनी चाहिए। चूंकि हस्तिनापुर की अवस्थिति गंगा के दाहिने तट पर थी, अतः गंगा का ही दूसरा नाम दृषद्वती था। इस संबंध में उनका यह भी कहना है कि वर्तमान कुरुक्षेत्र और हस्तिनापुर का अन्तर लगभग एक सौ मील है और रथ मार्गों से आने जाने पर और भी अधिक पड़ेगा। इतनी दूरी घोड़ों के रथों की सवारी द्वारा प्रतिदिन जाने आने के लिए अत्यधिक है, फिर उपदेश के लिए भी कुछ समय चाहिए। अतः युधिष्ठिर आदि का प्रतिदिन प्रातः काल भीष्म के पास उपदेश के लिए जाना और सायंकाल वापस हस्तिनापुर आ जाना, इस बात को प्रकट करता है कि भीष्म को शर-विद्ध होने के बाद कहीं हस्तिनापुर के समीप अथवा अधिक से अधिक बीस-पच्चीस मील के अन्तर पर गंगा तट के आस-पास ही रखा गया होगा।<sup>126</sup>

शास्त्रीजी को ज्ञात होना चाहिए कि जहां भीष्म जी की शरशय्या थी, वह स्थान 'ओघवती' नदी के तट पर था, ऐसा उल्लेख महाभारत में प्राप्त होता है।<sup>127</sup> इस ओघवती की पहचान वर्तमान 'मार्कण्डा' नदी के रूप में की गई है। यह सरस्वती की शाखा नदी है और कुरु क्षेत्र के सन्निवेश में ही है। साथ ही यह भी ध्यातव्य है कि श्रीकृष्ण और युधिष्ठिर आदि के रथों का चलन बलशाली एवं अति तीव्रगामी घोड़ों द्वारा हुआ था, जो बात ही बात में धर्म क्षेत्र

कुरुक्षेत्र में जा पहुंचते थे। फिर लौटते समय उनका चलना चांदनी रात में भी हुआ था। अतः दूरी का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। अगले दिन ओघवती नदी के तट से चलकर उन सबने दृषद्वती नदी के तीर पर आकर स्नान ध्यान आदि नित्य कर्मों को किया। वहां से वे सब हस्तिनापुर को चले आए।<sup>१९</sup> इससे स्पष्ट है कि दृषद्वती नदी ओघवती नदी से पूर्व दिशा की ओर थी। इसलिए भीष्मजी की शरशय्या का स्थान गंगा के निकट नहीं था और न ही दृषद्वती गंगा थी। दृषद्वती और गंगा दो पृथक्-पृथक् नदियां हैं, इसीलिए शांति पर्व के ५८ वें अध्याय का शीर्षक है— 'भीष्म द्वारा राज्य रक्षा के साधनों का वर्णन तथा संध्या के समय युधिष्ठिर आदि का विदा होना और रास्ते में स्नान-संध्यादि नित्य कर्म से निवृत्त होकर हस्तिनापुर में प्रवेश।'

२. दूसरे प्रमाण में शास्त्रीजी ने लिखा है कि भीष्म जी की मृत्यु हो जाने पर उनके निवास के समीप ही चिता बनाए जाने का महाभारत में उल्लेख है। वहीं भीष्म का दाह-संस्कार किया गया। दाह के अनन्तर गंगा में जाकर ही स्नानादि करने का उल्लेख किया गया है। इससे भी प्रतीत होता है कि जहां भीष्म शरशय्या पर लेटे थे, वह स्थान अवश्य ही गंगा के अति समीप था।<sup>२०</sup>

महाभारत में ऐसा कोई उल्लेख नहीं है, जिससे यह ज्ञात हो कि भीष्म जी की मृत्यु के बाद उनके निवास के समीप ही चिता बनाई गई थी और वहीं उनका दाह-संस्कार किया गया था। वहां तो स्पष्ट उल्लेख है कि युधिष्ठिर सूर्य को दक्षिणायन से उत्तरायण में आया देखकर भीष्म के अन्त्येष्टि संस्कार की समस्त सामग्री आदि लेकर यथा-समय कुरुक्षेत्र में भीष्म जी के पास पहुंचे थे।<sup>२१</sup> भीष्मजी के प्राण-त्याग करने पर वहीं उनका दाह-संस्कार किया गया था। तत्पश्चात् वहां से चल कर और गंगा-तट पर पहुंच कर सबने विधि पूर्वक भीष्मजी को जलांजलि दी थी। अतः शरशय्या वाला स्थान गंगा के निकट नहीं था।

३. तीसरे प्रमाण में उल्लेख है कि महाभारत में एक स्थल पर कौशिकी और दृषद्वती के संगम का उल्लेख है। शास्त्री जी ने इसे आधुनिक ऐतिहासिक विद्वानों के अनुसार बिहार प्रांत की कुशी या कोसी नदी माना है<sup>२२</sup> जो भागलपुर से कुछ आगे गंगा में मिलती है।

यह सही है कि आधुनिक कोशी की पहचान भी कौशिकी नदी के रूप में की गई है, किन्तु दृषद्वती नदी से मिलने वाली कौशिकी यह नदी नहीं है। यह तो कुरुक्षेत्र की प्रसिद्ध नौ नदियों में से एक है।<sup>२३</sup> कुरु क्षेत्र की परिक्रमा के अन्तर्गत दृषद्वती एवं कौशिकी का संगम पवित्र स्थल माना जाता है। वामन पुराणान्तर्गत कुरुक्षेत्र के तीर्थ माहात्म्य एवं क्रम वर्णन में इसका उल्लेख हुआ है।<sup>२४</sup> अतः इस आधार पर शास्त्री जी की यह धारणा कि गंगा का ही दूसरा नाम दृषद्वती था, अशुद्ध एवं भ्रामक है।

४. चौथे प्रमाण में सारस्वत तथा दार्षद्वत सत्रों का उल्लेख किया गया है जिनका निर्देश ऊपर किया जा चुका है। यहां शास्त्रीजी ने दृषद्वती के उद्गम से पश्चिम की ओर यमुना का उद्गमस्थल माना है और इसी को आधार बनाकर यमुना से पूर्व की दृषद्वती नदी को गंगा होने का अनुमान किया है<sup>३५</sup> जो पूर्णतया भ्रामक है। वास्तव में दृषद्वती के उद्गम स्थल से यमुना का उद्गम स्थल पश्चिम की ओर न होकर पूर्व की ओर ही था, जैसा 'सत्र' के वर्णन से ज्ञात होता है। वहां उल्लेख है कि सत्रयाजी दृषद्वती के दाएं तट पर ऊपर की ओर चलता हुआ उसके उद्गम-स्थान पर पहुंचे। इससे स्वतः स्पष्ट है कि यमुना का उद्गम स्थान दृषद्वती के उद्गम-स्थान से पूर्व की ओर ही था। अन्यथा वहां से नदी पार किए बिना ही वाक्यांश लिखने की क्या आवश्यकता थी? इसका तात्पर्य है कि दृषद्वती के उद्गम-स्थान को ऊपर की ओर से लांघ कर पूर्व की ओर यमुना के उद्गम स्थान पर जाए। वस्तुतः दृषद्वती का उद्गम-स्थल सरस्वती के उद्गम-स्थल और यमुना के उद्गम-स्थल के मध्य था। गंगा का उद्गम स्थल पूर्व की ओर था।

५. पांचवें प्रमाण में शास्त्री जी ने स्कन्द पुराण के वर्णन से अपने विचार की पुष्टि करते हुए लिखा है कि 'स्कन्द पुराण' में तो स्पष्ट ही सरस्वती और गंगा के संगम का उल्लेख पाया जाता है, जो किन्हीं अति प्राचीन परम्पराओं के आधार पर वर्णन किया गया प्रतीत होता है। उनका विचार है कि इस विषय पर यह संपूर्ण अध्याय (प्रभास खंड ३५/४७) ही पर्याप्त प्रकाश डालता है।<sup>३६</sup> किन्तु शास्त्री जी ने इस संबंध में अनवधानता से काम लिया है। यह समस्त प्रसंग प्रभास खंड के अन्तर्गत प्रभास क्षेत्र के माहात्म्य रूप में है। इसमें सरस्वती प्रदेश की परिवर्तनकारी घटना का भी उल्लेख आलंकारिक रीति पर संक्षेप में वर्णित है<sup>३७</sup>, जिसमें सरस्वती, गंगा, यमुना, गायत्री एवं सावित्री आदि देवी-रूप सखियों की वार्ता के द्वारा सरस्वती के आविर्भाव का निर्देश है। तत्पश्चात् सरस्वती का हिमालय पर्वत पर एक पांकड़ के वृक्ष से नदी रूप में प्रकट होकर पृथ्वी पर उतरना और उसका बड़वानल को ले पृथ्वी फोड़कर पाताल मार्ग से समुद्र के निकट पहुंच उसे बड़वानल समर्पित करने का उल्लेख है। सरस्वती एवं गंगा के संगम का इसमें कहीं भी कोई उल्लेख नहीं है। इसमें तो प्रभास क्षेत्र में बहने वाली पूर्व वाहिनी प्राची सरस्वती की महत्ता का उल्लेख हुआ है।<sup>३८</sup> इस पुराण का सारा वर्णन एक प्रकार से प्राकृतिक उथल-पुथल में सरस्वती के जल स्रोत के अवरुद्ध हो जाने के बाद की स्थिति के अनुसार प्रभास क्षेत्र में सरस्वती की स्थापना से संबंधित है।<sup>३९</sup> अतः इस पुराण के वर्णनों से तो शास्त्री जी की धारणा की पुष्टि न होकर उसका परिहार ही होता है।

इस विषयक वर्णन पद्म पुराण में भी है जिसे शास्त्रीजी ने अपने इतिहास के पृ. ५८ की तुलसी प्रज्ञा जुलाई—सितम्बर, 1999



एक पाद टिप्पणी में दिया है। इस पुराण में भी आलंकारिक रूप में सरस्वती प्रदेश की परिवर्तनकारी घटना का उल्लेख मिलता है। वहां पर देवलोक से बड़वानल को सरस्वती के द्वारा समुद्र में भेजे जाने का वर्णन है। शास्त्रीजी ने लिखा है कि देवलोक से बड़वानल को लेकर जब सरस्वती समुद्र की ओर चली, तो गंगा और यमुना ने उससे पुनः दर्शन के लिए पूछा, परन्तु सरस्वती सदा के लिए उनसे विदा लेकर चली गई। गंगा ने उसका अनुगमन करना चाहा, पर सरस्वती ने कहा कि तुम अब प्राची (पूर्व) दिशा की ओर चली जाओ। स्वयं सरस्वती बड़वानल को लेकर सदा के लिए पश्चिम-समुद्र में चली गई।<sup>19</sup> इस प्रसंग में यमुना का कोई उल्लेख नहीं है और न ही सरस्वती द्वारा गंगा को प्राची (पूर्व) दिशा में चले जाने का निर्देश है। सरस्वती एवं गंगा ने संवाद द्वारा पूर्व वाहिनी सरस्वती और उत्तर वाहिनी गंगा का महत्त्व स्थापन किया गया है।<sup>20</sup> वास्तव में यह समस्त प्रसंग पुष्कर तीर्थ की महत्ता विषयक है, जिसमें उक्त तीर्थ के अन्तर्गत सरस्वती के प्राकट्य का वर्णन हुआ है। अतः इस पुराण का वर्णन भी शास्त्रीजी की धारणा को पुष्ट करने में सहायक नहीं है।

उपर्युक्त समस्त तथ्यों पर विचारोपरान्त यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि दृषद्वती गंगा नहीं थी।

### संपादकीय टिप्पण

सुधी विद्वान् वेद प्रकाश गर्ग ने स्व. आचार्य श्री उदयवीर शास्त्री की धारणा कि दृषद्वती गंगा नदी का ही पूर्व नाम है, के लिए उनके द्वारा प्रस्तुत पांच प्रमाण-रथों की गति; भीष्म की चिता, कौशिकी नदी की पहचान और स्कन्द पुराण के विवरण को अपर्याप्त माना है। ताण्ड्य महाब्राह्मण और कात्यायन श्रौतसूत्र में आये सारस्वत और दार्षद्वत सत्रों का परिभ्रमण भी जैसा श्री गर्ग ने ब्यौरा दिया है, वैसा अधिक सही लगता है। स्वयं शास्त्रीजी ने भी माना है कि सरस्वती के दक्षिण तट पर नीचे दृषद्वती का संगम है। अतः 'विनशन' से सरस्वती के दक्षिण तट पर ऊपर जाने से संगम के ऊपर सरस्वती नदी पार दृषद्वती का दाहिना तट मिलेगा, जिससे दृषद्वती के उद्गम से सरस्वती के उद्गम पर पहुंच कर नीचे आते हुए सरस्वती के दाहिने तट पर चलते हुए संगम से पुनः 'विनशन' पर पहुंचने से यह परिभ्रमण पूरा होगा। यह यात्रा सरस्वती के उद्गम-स्थल (प्लक्ष-प्रास्त्रवण) जाते समय यमुना के उद्गम-स्थल (त्रिप्लक्ष अवहरण) के आ जाने मात्र से गंगा को दृषद्वती नहीं बना देती फिर भी पुरातात्विक-चिन्तन में जो कल्पना की गई है कि किसी प्रलयंकर भूगोलीय परिवर्तन से गंगा-यमुना ने अपनी दिशा बदली होगी—इस दृष्टि से विचारणीय है।

आज कल अरब सागर से उठा समुद्री तूफान बंगाल की खाड़ी और बंगाल की खाड़ी से उठा तूफान अरब सागर की खाड़ी तक तबाही मचा दे रहा है, वैसे यदि यहां द्वीपों की

अवस्थिति मानकर कुरुक्षेत्र के केन्द्र से उठे किसी भयानक चक्रवात की कल्पना करें जिसने हिमालय को उभारा हो और आडावळा (पारियात्र) के एक बाजू से समुद्र को पीछे धकेल दिया हो तो नदी-वितान दो भागों में बंट सकता है।

दूसरे एतद्देशीय भूगोल को समझने के लिए ब्रह्मा की वेदी के उल्लेख भी महत्त्वपूर्ण हो सकते हैं। ब्रह्माजी की पहली वेदी पुष्कर है। उत्तरवेदी कुरुक्षेत्र है। हमने इस संबंध में छापार (द्रोणपुर) और कोलायत (कपिलायतन) को भी ब्रह्मावेदी मानने का सुझाव दिया है (देखें—प्राचीन भारत में परमाणु-विस्फोट—दो विस्मृत स्थान-पुष्कर और कोलायत,, मरुभारती, पिलानी, भाग-३६ अंक ४ पृ. १७-२८) ब्रह्माजी की ये वेदी-पुष्कर (पत्राकार) समन्तपंचक (पंचकोणी), कपिलायतन (चारकोणी) और ब्रह्मावर्त (सरस्वती एवं दृषद्वती नदियों के मध्य का भू भाग)— उत्तरोत्तर क्रम से बनी हो सकती हैं। पहली वेदी-पुष्कर द्वीप पर स्थापित हुई। तैत्तरीय ब्राह्मण (1.1.3) में इस स्थल को पृथ्वी का पृथिवित्व कहा गया है जिसे वराह बनकर प्रजापति ने समुद्र से उद्धृत किया था। बाद में महात्मा कुरु ने कुरुक्षेत्र का उद्धार किया और पांच हजार वर्ष पूर्व पाण्डवों ने खाण्डव वन को जला कर आवास योग्य बनाया व इन्द्रप्रस्थ बसाया। यूनानी आक्रमण से पूर्व यहां गंगरदाई (महाभद्रेन वंश का प्राशशी राज्य) बना जिसके भय से सिकन्दर महान् श्री फौज वापिस लौट गई। इस प्रकार विक्रम पूर्व (दो हजार वर्ष पूर्व) तक बीती सहस्रों सदियों में भारतीय मानचित्र (भारत वर्ष शरीर) में अनेकों परिवर्तन हुए होंगे—ऐसी सहज ही कल्पना की जा सकती है।

नदी-नद-वितान की दृष्टि से देखें तो सिंधु देश और उसकी सात नदियों में सिन्धु महानदी को कैलाश पर्वत के उत्तरी छोर से उद्गमित माना जाता है। वह उत्तर-पश्चिम भाग से दक्षिण-पश्चिम को मुड़कर कश्मीर के गिलगित क्षेत्र (प्राचीन दरद देश) में आती और 'दारदी सिंध' कही जाती। वहां से गांधार देश की सीमा बनाती दक्षिण में चिनाब से मिलने के बाद पंचनद कही जाती, क्योंकि तब तक उसमें सुवास्तु, चाक्षु, कुशा, और गोमल नाम की तीन नदियां और आ मिलतीं। एरियन ने सुवास्तु (सोतोस) और गौरी (गोइरोइय) का नाम दिया है। महाभारत में पेशावर की वारा (वरा) नदी का नाम है। पूर्व से मिलने वाली नदियों में वितस्ता (झेलम), चन्द्रभागा (चिनाब), इरावती (रावी) देविका (दीगा) शतद्रु (सतलुज) और विपाशा (व्यासों) नदियां हैं।

सरस्वती नदी सिंध से पूरी तरह पृथक् नदी थी। यह कुरुक्षेत्र की प्रमुख नदी थी। दृषद्वती, ओघवती और शरावती-सरस्वती की प्रमुख सहायक नदियां हैं। ऋग्वेद (3.23-24 और 2.17) के अनुसार दृषद्वती ब्रह्मावर्त की सीमावर्ती नदी दीख पड़ती है तो महाभारत (3.81.175) के अनुसार इसे कुरुक्षेत्र की सीमा कहा जा सकता है। कालिका पुराण

(51.77) में इसे गंगा के सदृश कहा गया है और वामन पुराण (अध्याय-34) में इसके साथ इसकी सहायक नदी कौशिकी का नाम भी लिखा है। मनोरमा और सुसमा दो अन्य नदियां हैं जो दृषद्वती के साथ सरस्वती से मिलती रही हैं।

वस्तुतः सरस्वती भयंकर समुद्री तूफान के कारण हुए भूगर्भीय परिवर्तन (टेकटोनिक फेक्टर) से विलुप्त हुई नदी है जो संभवतः विक्रम पूर्व पांचवी-चौथी सहस्राब्दी में उद्भेदों (स्पॉटिंग्स) में बदल गई थी, किन्तु तब भी यह बिना सिन्धुनद के बहाव क्षेत्र में प्रवेश के, सीधी 'कच्छ के रन' में पहुंचती थी। यही कारण है कि पुरातात्विक स्थलों की प्राप्ति विश्रृंखलित रूप में हो रही है।

गंगा-यमुना की कहानी सर्वथा अलग है। यमुना के दो तीन बार धारा बदलाव के प्रमाण मिल चुके हैं जो अधिक पुराने नहीं है किन्तु हिमालय-निर्माण से पूर्व जो ब्राह्म महानद पूर्व से उत्तर में बहता था वह जिस समय सिमटा, उसी समय लाखों वर्ष पूर्व गंगा की धारा मुड़ चुकी थी। अलकनंदा, मंदाकिनी, जाह्नवी, भागीरथी-ये चार धाराएं संयुक्त हो कर देव प्रयाग से कनखल में गंगा बनती हैं। योगिनी तंत्र (2.4.1289) ब्रह्माण्ड (2.18.42) हरिवंश (1.15) आदि में इनका ब्यौरा है। बंगाल के राजा बल्लालसेन के ताम्रपत्र में भी गंगा भागीरथी और जाह्नवी नाम से उल्लिखित हुई है।

इस विषय में अभी बहुत अधिक अनुसंधान की अपेक्षा है। फिर भी यह कहना सही है कि गंगा का प्राचीन नाम दृषद्वती नहीं है।

—स्व. परमेश्वर सोलंकी

### संदर्भ :

१. सरस्वती के उत्पत्ति स्थान पर तुषार क्षेत्र था। यही तुषार क्षेत्र पिघल कर सरस्वती को पुष्ट करता था। इस तुषार क्षेत्र को ऋग्वेद में 'सरस्वान्' कहा गया है। सरस्वती नदी के तट पर बिन्दु सरस् के कुछ अन्तर पर कर्दम ऋषि का आश्रम था। यहीं महर्षि कपिल का उत्पत्ति-स्थान था।
2. (अ) एकाचेतत् सरस्वती नदीनां शुचिर्मतीगिरिभ्य आसमुद्रात्'-ऋग्वेद (७/९५/२)  
(आ) 'ततो गत्वा सरस्वत्याः सागरस्य च संगमे' म. भा. वन पर्व (८२/६०)
3. 'समुद्रं पश्चिमं गत्वा सरस्वत्यब्धि संगमम्।' म. भा. शल्य पर्व (३६/३३)
४. राजपूताने के इस विशाल भाग में अनेक झीलें ऐसी पाई जाती हैं जिनका जल समुद्र के समान सर्वथा खारा है। इनमें सबसे बड़ी झील 'सांभर' है। इसके अतिरिक्त डीडवाना, पचभद्रा, पीलाप, लूणकरणसर, कोडमदेसर, गजनेर आदि स्थानों में भी अनेक छोटी-छोटी झीलें हैं, जिनमें सर्वथा समुद्री जल है। इससे प्रतीत होता है कि कभी अति प्राचीन काल में यह प्रदेश समुद्री जल से ढका था। किसी आकस्मिक उग्र भौगोलिक परिवर्तन से समुद्र उथल कर पीछे हट गया और ये उसके चिह्न शेष रह गए।

५. देखिये- उनकी पुस्तक आर्यों का आदि देश पृ. ३५-४१ इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इंडिया प्रथम भाग।
६. ताण्ड्य महाब्राह्मण (२५/१०/१) तथा जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (४/२६)।
७. वन पर्व (८२/१११), शल्य पर्व (३७।११) मनुस्मृति में भी इसका उल्लेख मध्य देश की पश्चमी सीमा के रूप में हुआ है। (२/२१)। 'विनशन,' सरस्वती एवं समुद्र के संगम पर तत्कालीन एक तीर्थ स्थल था।
८. सरस्वती नदी के अदृश्य हो जाने के पश्चात् यह नदी आगे तीन स्थानों यथा—चमसोद्भेद, शिवोद्भेद और नागोद्भेद आदि में पुनः प्रकट होती है। वन पर्व (८२/११२) में इनका उल्लेख मिलता है। इस प्रकार के स्थानों को प्राचीन परिभाषा में उद्भेद कहा जाता था। वर्तमान में सरस्वती की क्षीण धारा सिरमौर के पहाड़ों से निकल कर 'आद बट्टी' के पास समतल भूमि पर प्रवेश करती है। यह नदी 'घलौर' गांव के पास कुछ दूर तक रेत में अदृश्य हो गई है और भवानीपुर के पास फिर दिखाई देती है। इसी तरह 'बाल छप्पर' के पास फिर अदृश्य होकर 'बरखेड़ा' में पुनः दीखने लगती है और पेहोआ के समीप उरतई में मारकण्डा नदी इससे मिल जाती है।
९. इस यात्रा का आरम्भ विनशन (संभवतः वर्तमान कोलायत) से होता था।  
·(क).सरस्वती - दृषद्वत्योर्देवनद्योर्दन्तरम्। देव-निर्मितं ते देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते ॥
१०. दक्षिणेन सरस्वत्या दृषद्वत्युत्तरेण च।  
ये वसन्ति कुरुक्षेत्रे ते वसन्ति त्रिविष्टपे ॥ म. भा. वन पर्व ८३/४  
ऋग्वेद (३.२३.४) में भी सरस्वती और दृषद्वती के बीच की भूमि को उत्तम स्थान कहा गया है। अन्य ग्रन्थों में इन दोनों नदियों को देवनदी माना गया है।
११. दे. उनके भौगोलिक कोश (इंगलिश) में 'दृषद्वती' ॥ उन्होंने घग्घर को अम्बाला और सरहिन्द से बहते हुये राजपूताने की मरुभूमि में अन्तर्हित होने का उल्लेख किया है। सरहिन्द के पास बहने का उनका उल्लेख सही नहीं है। वह तो सरहिन्द से लगभग ३५ मील दूर पूरब की ओर बहती है। अम्बाला छावनी से भी लगभग दो-तीन मील पूरब में बहती है। डे महोदय के उल्लेख का आधार एल्फिन्स्टन और टाड के उल्लेख हैं। (दे. ज. ए. सो. बं., 6, 181)।
१२. इसकी गणना कुरुक्षेत्र की नौ नदियों में की गई है। इसके तट पर ही पाण्डव-सेना का पड़ाव हुआ था (म. भा. उद्योग ०१५२/७-८) आगे चलकर इस नदी को हाकड़ा कहा जाने लगा और इसी तरह इसका कग्गर या घग्घर नाम प्रचलित हुआ।
१३. दे. ऐंशियेंट इंडिया, पृ. ५१; इंपीरियल गजेटियर ऑफ इंडिया, पृ. २६/  
१४ दे. समाज धर्म एवं दर्शन वर्ष १५ अंक १ में प्रकाशित मेरा लेख " भारत वर्ष को चार प्रदेशों में विभक्त करने वाली प्राचीन 'शरावती' नदी की पहचान।' यह लुप्त पुरातन नदी सूरतगढ़ के उत्तर में लगभग तीन मील की दूरी पर सरस्वती के पूर्वोत्तर की ओर (संभवतः वर्तमान रंग महल) आकर मिलती थी। इन दोनों नदियों के संगम का उल्लेख, लाट्यायन श्रौत सूत्र १०/१९/४ में है।
१५. दे. उक्त इतिहास ग्रंथ के 'महर्षि कपिल' शीर्षक अध्याय में पृ. ६४-६७।

१६. दे. राजस्थान भारती भाग ५ अंक २ में 'सरस्वती' शीर्षक लेख।
१७. तत्कालीन भौगोलिक स्थिति से संभव है, ऐसा रहा हो, किन्तु गंगा, दृषद्वती नदी नहीं थी जैसा कि आगे इस लेख में बताया गया है।
१८. दे. राजस्थान भारती, भाग ५ अंक २. पृ. १६।
१९. दे. कल्याण का श्रीवामन-पुराणांक, (वर्ष ५६ अंक १), पृ. १६६, यहां भी इसका उल्लेख आपगा के रूप में हुआ है। तिसर ने इसे ठीक ही सरस्वती के समीप स्थित बतलाया है।
२०. दे.म.भा. वन पर्व ८३/६७-६८ ( गीता प्रेस, गोरखपुर-संस्करण)।
२१. यों तो ऋचा में इस नदी का नाम वितस्ता और सुषोमा के बीच में सिंधु की एक पूर्वी सहायक नदी के रूप से आया है। इसीलिए कुछ विद्वानों का विचार है कि यह व्यास नदी नहीं हो सकती, किन्तु यदि उनकी बात मानें, तो ऋचा में व्यास नदी के नाम का अभाव हो जाता है, जो संभव प्रतीत नहीं होता कि 'व्यास' जैसी प्रसिद्ध नदी को छोड़ दिया जाए। यद्यपि नदियों के नाम क्रम में विरोध तो है, किन्तु संभव है श्लोक रचना के कारण ऐसा हुआ हो। यास्क के अनुसार निरुक्त ९ (२६) आर्जीवीया, विपाश् (व्यास) नदी का ही नाम है, जो सही है।
२२. दे. राजस्थान भारती, भाग ५ अंक २, पृ. १७-१८।
२३. दे. वैदिक साहित्य (ले. पं. राम गोविन्द त्रिवेदी प्र. भारतीय ज्ञान पीठ, काशी) पृ. २९०।
२४. दे. वही, पृ. २९६ (किसी-किसी ने सिंधु का ही अन्य नाम सुषोमा बताया है।
२५. कहा जाता है कि ऋग्वेद (१०.५३.८) में 'अश्मन्वती' नदी का जो नाम आया है, वह इसी नदी का है।
२६. दे. महाभारत शांति पूर्व, अध्याय ४६-५८ तक
२७. दे. सांख्य दर्शन का इतिहास, पृ. ६५।
२८. दे. म. भा. शांति पर्व अध्याय ५० श्लोक ५, ६, ७ 'देशे परम धर्मिष्ठे नदी मोघवतीमतु।' दे.सं.म.भा.द्वि. खंड, पृ. २३४ भी।
२९. दे. वही, अध्याय ५८, श्लोक २८-३० तथा सं. म. भा. द्वि. खंड, पृ. २४२।
३०. दे. सांख्य दर्शन का इतिहास, पृ. ६६।
३१. दे. संक्षिप्त महाभारत, द्वितीय खंड, पृ. ६५१-६५४ तथा मूल श्लोक- 'निश्चक्राम पुरात् तस्माद् यथा देवपतिस्तथा। आससाद कुरुक्षेत्रे ततः शान्तनवं नृपः॥' श्लोक-१२ महाभारत-षष्ठ खंड, अनुशासन पर्व ( भीष्म स्वर्गारोहण पर्व), अध्याय १६७ पृ. ६०९३ तथा अध्याय १६८ भी। (गीता प्रेस, गोरखपुर-संस्करण)।
३२. दे. सांख्य दर्शन का इतिहास, पृ. ६६।
३३. दे. कल्याण का श्री वामन पुराणांक (वर्ष ५६ अंक १) अध्याय-३४, पृ. १६६ "मधुस्रवा वासु नदी कौशिकी पाप नाशिनी" ॥७॥
३४. दे वही पृ. १७८ 'कौशिक्या संगमे यस्तु दृषद्वत्यां नरोत्तमः..... 1.' ५७॥ म. भा. वन पर्व, अ. ८३ का ९५ संख्यक श्लोक भी द्रष्टव्य है, जिसमें इस संगम स्थल का उल्लेख है। इस संगम स्थल के पश्चात् व्यास स्थली में जाने का निर्देश है। यह कौशिकी नदी दृषद्वती (फलकी वन तीर्थ के

निकट यह नदी थी) नदी के दक्षिण में बहने वाली नदी थी, जो हांसी के समीप दृषद्वती नदी में मिल जाती है।

३५. दे. सांख्यदर्शन का इतिहास, पृ. ६६-६७

३६. दे. वही, पृ. ६७

३७. सरस्वती के नष्ट हो जाने का उल्लेख प्राचीन साहित्य में स्पष्ट है और इसके अनुसार नष्ट सरस्वती के चिह्न आज भी उपलब्ध होते हैं। सरस्वती के स्रोतों के नष्ट होने का संकेत शतपथ ब्राह्मण (१/४/१/१०-१७) में भी मिलता है। उसमें सरस्वती प्रदेश के उस राजा विदेश माधव की कथा दी गई है, जिसका देश और सरस्वती का स्रोत किन्ही तीव्र भौगोलिक परिवर्तन से नष्ट प्राय हो गया था। महाभारत के कुछ उल्लेखों से भी यह स्पष्ट होता है कि भारत-युद्ध काल से बहुत पूर्व ही सरस्वती नदी का स्रोत रुद्ध हो चुका था। (दे. शल्य पर्व ३८/१; भीष्म. ६/५१) महाभारत काल में भी नष्ट हुई सरस्वती के चिन्ह, आज की तरह यत्र-तत्र उपलब्ध होते थे।

३८. दे. कल्याण के वर्ष २५ का संक्षिप्त स्कन्द पुराण विशेषांक, पृ. ९७३-९७५ प्रभास खंड (गीता प्रेस, गोरखपुर)

३९. महाभारत (वनपर्व, ८२/५८, शल्य. ३५/७८) में प्रभासतीर्थ की स्थिति सरस्वती के तट पर बताई गई है जहां सरस्वती समुद्र में मिलती थी। संभवतः इसी आधार पर डे महोदय ने सोमनाथ के पास सरस्वती का होना बताया है, किन्तु यह स्थिति बाद की है। विनाशकारी परिवर्तन के बाद किसी समय पूर्वकाल की स्मृति के आधार पर प्रभास एवं सोम तीर्थ की कल्पना की गई है जिसके आधार पर महाभारत का उक्त वर्णन लिखा गया। भौगोलिक परिवर्तन के पूर्व सरस्वती की विशाल जलधारा वर्तमान राजस्थान के उत्तर पश्चिमी भाग से समुद्र में ही आकर मिलती थी, जहां विनशन नामक तीर्थ था, जिसके आगे सरस्वती के कोई चिन्ह नहीं मिलते। अतः राजस्थान के प्रदेश (समुद्री भाग) को पार करके इस सरस्वती का गुजरात में जाना किसी भी तरह संभव नहीं है।

(इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है कि सटेलिट सर्वेक्षण ने विलुप्त नर-नद के साथ मिलकर सरस्वती के कच्छ के रन में पहुंचने की पुष्टि करदी है। इस सर्वेक्षण के अनुसार सतलुज भी सिन्धुनद को छोड़ कर सरस्वती से आ मिलती थी।) —संपादक

४०. पद्मपुराण सृष्टि खंड, १८/१५९-२०० के आधार पर।

४१. दे. कल्याण के वर्ष १९ का संक्षिप्त पद्म पुराणांक, पृ. ८३-८८, सृष्टि खंड (गीता प्रेस, गोरखपुर)।

14, खटीकान,

मुजफ्फर नगर,

पिन 251002 (उत्तर प्रदेश)



## इतिहास

# सिंधुराज का अग्रज राजा मुंज

✍ राव गणपतसिंह चीतलवाना

अंधविश्वासों से थोड़ा-बहुत हम सब परिचित हैं, लेकिन क्या आप जानते हैं कि अगर किसी दम्पति के बारम्बार संतान होने पर भी जीवित न रहे, तो मध्य प्रदेश, राजस्थान, गुजरात आदि प्रदेशों में एक विश्वास के अन्तर्गत बुरी नजर से बचने हेतु नवजात शिशु को तिरष्कार या दूष्यसूचक नाम दिये जाने की परिपाटी चली आ रही है। इस प्रथा के अनुसरण में लोग अपने ही बालक को कचरे के ढेर पर डलवा कर, उसके मिलने व उठा लेने का नाटक करते हैं अथवा उसे किसी स्वजन के पास पहुंचवा कर, लूण (नमक) के बदले में क्रय करके अपनाने का स्वांग रचते हैं और ऐसे बच्चे का नामकरण ओखाराम, लूणसिंह, जैसी भी स्थिति हो, रख लेते हैं। कूड़ा-करकट को गुजराती में 'ओखा' कहते हैं, तो प्राकृत के शब्द 'दूसल' का अर्थ है अभागा।

ऐसा ही एक उदाहरण मालवा के परमार राजा वाक्पतिराज (लगभग वि.सं. 1031-1055) का मुंज नाम धरने से संबंधित है। जैन गुरु मेरुतुङ्ग ने अपने ग्रन्थ 'प्रबन्ध—चिन्तामणि' (रचनाकाल वि.सं. 1361) में मुंज के जन्म एवं प्रारम्भिक जीवन की कथा दी है कि मालवा का राजा सिंहदन्तभट (सीयक) लम्बे समय तक संतानहीन था। एक बार जब वह राज-परिश्रमण में था, तब उसने मुंज घास में एक नवजात शिशु को देखा, जिसे उसने पुत्रवत् उठा लिया। फिर उसने बालक का लालन-पालन एक राजकुमार की तरह किया। मुंज घास पर मिलने से बालक का

नाम मुंज रखा। तत्पश्चात् सिंधुराज का जन्म हुआ, परन्तु उसने अपना उत्तराधिकारी मुंज को ही बनाना चाहा, क्योंकि राजा मुंज से अत्यधिक प्रभावित था।

एक समय की बात है कि राजा सीयक राजकुमार मुंज के अन्तःपुर में अचानक जा पहुँचा, उस समय वह अपनी सहधर्मिणी के साथ जनाना महल में था। राजा के उस आकस्मिक आगमन से मुंज घबरा गया। मुंज को अपनी पत्नि को अलग हटाने का कोई सुअवसर न मिला, तब राजा के दृष्टिगोचर होने से टालने हेतु उसे एक पलंग के पीछे छिपा दिया। राजा सीधा कक्ष में आया और मुंज के जन्म तथा ग्रहण करने की सम्पूर्ण घटना एवं उसको अपना वारिस बनाने के संकल्प की जानकारी दी। अन्त में उसने अपनी यह इच्छा व्यक्त की कि मुंज अपने अनुज सिंधुराज के प्रति स्नेह और मैत्रीभाव रखे। कुछ अन्तराल बाद मुंज का राज्याभिषेक हर्षोल्लास से हुआ। कहते हैं कि कहीं असावधानी से राणी मुंज के जन्म के रहस्य को प्रकट न कर दे, इस भयवश उसने अपनी भार्या का वध कर दिया।<sup>१</sup>

डॉ. डी.सी. गाँगुली को उपर्युक्त कहानी रोचक लगी, इसलिए उसने इसे मान लिया। यद्यपि उसकी पुष्टि में उसको कोई साक्ष्य ही उपलब्ध नहीं हुआ।<sup>२</sup> डॉ. प्रतिपाल भाटिया को मां-बाष से त्यागे हुए बालक का ऐसा कथानक अमान्य है। इसके बदले में डॉ. भाटिया की सहमति तो पद्मगुप्त, जो मुंज और सिंधुराज दोनों का राजकवि था, के काव्य 'नवसाहसाङ्कचरितं' के कथन से है कि वाक्पतिराज (द्वितीय) सिंधुराज का ज्येष्ठ भ्राता था।<sup>३</sup>

वस्तु स्थिति यह रही कि सीयक के आरम्भ में दो-तीन पुत्र अल्पायु में ही काल-कवलित हुए, जिससे उपरोक्त परिपाटी के अनुपालन में उसने मुंज घास के झुरमुट में से अपने ही बालक को प्राप्त करने का टोटका किया और बच्चे का नाम मुंज रखा। वि.सं. 1361 तक वाक्पतिराज का मुंज नाम चलने की पृष्ठभूमि को भूल जाने तथा उसमें क्षेपक जुड़ने का (प्रबन्ध-चिंतामणि से) प्रमाण मिलता है, मगर तेरहवीं सदी की प्रथम चौथाई (किराडू लेख उत्कीर्ण करने) तक उसका 'दूसल' नाम है जो प्रशस्तिकार नरसिंह द्वारा अंध-परम्परा के परिप्रेक्ष्य में मुंज को दिया उत्कीर्ण है। आधुनिक इतिहासकार अब तक दूसल की सही पहचान करने में विफल रहे हैं और अभिलेख में वर्णित '(धारां) प्रतापोज्जवलदूसलः' को उसल (उत्पल) पढ़ने का भ्रम पाले रहे हैं\*।

'दूसल' शब्द को जो पुरातत्त्ववेत्ता 'उत्पल' पाठ पढ़ने के हामी हैं, उन्हें अब इस स्पष्टीकरण के बाद वैसा पढ़ने की आवश्यकता नहीं रहनी चाहिए। यदि मुंज अपने पिता सीयक का आत्मज पुत्र न होता, तो वि.सं. १०३१ उज्जैन दानपत्र<sup>४</sup> में वह बसन्ताचार्य को मात्र अपने पुण्यार्थ दान देने का उल्लेख करवाता न कि अपने माता-पिता के नामोल्लेख सहित।<sup>५</sup>



जैन आचार्य पर मुंज के पैदा होने के विषय को लेकर अब तक कोई कैसे भी आरोप-प्रत्यारोप करते रहे हों और इसे मानने, न मानने के लिये वे अब भी स्वतंत्र हैं, किन्तु हमें तो यही लगता है कि तीन शताब्दियों के बाद अंधविश्वास का यह कृत्य आचार्य मेरुतुङ्ग तक पहुंचते पहुंचते मुंज को अज्ञात माता-पिता की संतति बना चुका था और जैन गुरु ने उसे यथार्थ मान 'जस का तस धर देना' जो ऐतिहासिक दृष्टि से परिमार्जनीय है।

### संदर्भ

- (१) मेरुतुङ्ग कृत 'प्रबन्धचिंतामणि' (अनु. सी. एच. टाने) कलकत्ता (1901 ई.) पृष्ठ ३०
- (२) गाँगुली, डॉ. डी.सी., परमार राजवंश का इतिहास (अनु. लक्ष्मीकान्त मालवीय) अरविन्द प्रिण्टर्स, प्रयाग, पृ. 34-35
- (३) भाटिया, डॉ. प्रतिपाल; द परमारज; नव चेतन प्रेस प्रा. लि. दिल्ली-6 (1970 ई.) . पृ. 46 टिप्पणी 3.
- (४) रेड, पं. विश्वेश्वर नाथ; ग्लोरीज आफ मारवाड़ एण्ड द ग्लोरियस राठौड़स; आर्क्योलॉजिकल डिपार्टमेन्ट, जोधपुर (1943 ई.) पृ. 212  
किराडू लेख में राजा सोमेश्वर ने अपने पूर्वज सिंधुराज का नाम ज्येष्ठ भ्राता दर्शाने के लिये प्रथम वरीयता में 'सिंधुराजो महाराजः समभून्मरुमंडले' लिखवाया। उसके पश्चात् '.... (धारा में) अपने प्रताप से उज्वल दूसल (नामक राजा) हुआ को द्वितीय क्रम की वरीयता निर्दिष्ट करवाई। मारवाड़ में प्रचलित वरिष्ठ को श्रेष्ठ मानने की उस रीति-नीति का अनुकरण वि.सं. 1377 के अचलेश्वर लेख (प्रतिष्ठान पत्रिका-जोधपुर, वर्ष 2 अंक 1 पृ. 87 से 106) और नौलखा बाबड़ी, डूंगरपुर की प्रशस्ति (शोध पत्रिका-उदयपुर, वर्ष 40 अंक 2 पृ. 48-52) लेखों में भी ऐसे ही किया हुआ है। इन लेखों में लक्ष्मण (नाडोल) के छोटे बेटे अधिराज या आसराज को बड़े पुत्र सोही से ऊपर स्थान दिया गया है।
- (५) इण्डियन एन्टिक्वेरी, जिल्द छठी, पृष्ठ 51.

गांव व पोस्ट चीतलबाना 343 041

तहसील सांचोर, जिला-जालौर (राज.)



## चिन्तन-मनन

# मानवाधिकार एवं विश्वशांति

डॉ. बच्छराज दूगड़

संप्रभु राष्ट्र के विरूद्ध एक व्यक्ति को कुछ निश्चित अहस्तान्तरणीय अधिकारों का सिद्धान्त बहुत प्राचीन है। मानवाधिकारों का उद्गम अन्तर्राष्ट्रीय कानून में है। मानव अधिकार व विश्वशांति दो ऐसे सिद्धान्त हैं जो एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्धित हैं। बीसवीं शताब्दी एशिया, अफ्रीका, और लेटिन अमेरिका महाद्वीपों की मुक्ति की साक्षी है जिसमें दुनिया की आधी जनसंख्या स्वतंत्र हुई तथा यह स्वतंत्रता मानव जाति के स्वर्णिम भविष्य का प्रतीक कही गई।<sup>1</sup> इसी शताब्दी में महात्मा गांधी ने सत्य और अहिंसा का मार्ग दिखाया, पटेल ने हमें अन्याय और दमन से लड़ने का निर्देश दिया, नेहरू ने गुटनिरपेक्षता और विश्वशांति की नींव रखी।<sup>2</sup> यह उपनिवेशवाद के विरूद्ध एक लहर थी जो 1947 से भारतीय तट से उठी, जिसने सम्पूर्ण विश्व की राजनैतिक, भौगोलिक स्थितियों को बदल दिया, अन्तर्राष्ट्रीय कानून ही नहीं वरन् मानव जाति के मूलभूत कानूनों की सुदीर्घ परम्परा के सिद्धान्तों और नियमों को परिवर्तित कर दिया तथा मानवाधिकारों की एकात्मकता और मानव जाति की एकता को एक नये युग में प्रवेश के लिए मानवीय चिन्तन को क्रांतिकारी बना दिया। भारत की स्वतंत्रता इस शती की सर्वाधिक यादगार घटना है। यह ऐसा सामूहिक प्रयास था जिसमें विजेता और विजित दोनों ने एक विशिष्ट पार्लियामेन्ट एक्ट के अन्तर्गत सत्ता का शांतिपूर्ण हस्तान्तरण करने में सहयोग किया जिससे 1947 में भारत और पाकिस्तान को स्वतंत्रता मिली। इससे पूर्व बर्मा

तथा इसके पश्चात् सीलोन को स्वतंत्रता मिली। नेल्सन मण्डेला के नेतृत्व में दक्षिणी अफ्रीका की स्वतंत्रता इस दिशा में एक और महत्वपूर्ण अनुभव था। ऐसे स्वायत्त राज्यों की घोषणाओं के साथ ब्रिटेन ने दूसरे शासकों के समक्ष मानवीय आधार प्रस्तुत किया।<sup>3</sup> यद्यपि इस शताब्दी के अंत तक भी चीन के कानों में यह आवाज नहीं पहुंची है कि वह तिब्बत को स्वतंत्र कर दे तथा तिब्बतियों के मानवाधिकारों की बहाली कर विश्वशांति के नये युग का प्रारम्भ कर दे।

मानव जाति के अहस्तान्तरणीय अधिकारों का विचार कवियों, दार्शनिकों, राजनीतिज्ञों द्वारा प्रायः उच्चारित किया गया है, अतः मानवाधिकारों के अन्तर्राष्ट्रीय संरक्षण का विकास भी प्राचीन काल से माना जा रहा है। अर्थात् मानव अधिकार उतने ही प्राचीन हैं जितनी मानव सभ्यता।<sup>4</sup> स्वस्थ समाज के अस्तित्व की पहचान मानव अधिकारों की पहचान ही है। हमारे आगम मानव जाति के भाईचारे और पूरे विश्व को परिवार के रूप में देखते आये हैं। परिवार की सदस्यता की बाध्यता के बावजूद मानवता एक परिवार है।<sup>5</sup> भारतीय ऋषि-मुनियों ने सदैव विश्वबन्धुत्व, प्रेम एवं वसुधैव कुटुम्बकम् के गीत गाये हैं। गुरुनानक ने कहा था—कोई मेरा शत्रु नहीं है, कोई बाहरी नहीं है, सभी मेरे बन्धु हैं।<sup>6</sup> भगवान महावीर भाईचारे तक ही सीमित नहीं रहे, अपितु वे प्राणी समानता तक आगे बढ़े। फ्रेंच डिक्लेरेशन ऑफ ह्यूमन राइट्स 1789, अमेरिकन बिल ऑफ राइट्स 1791, अबोलिशन ऑफ स्लेवरी इन ब्रिटिश एम्पायर, 1833 आदि विधान मानव जाति के प्राकृतिक अधिकार के सिद्धान्तों पर आधारित हैं।<sup>7</sup>

ये और इन्हीं के समान कुछ अन्य विधान निश्चित ही मील के पत्थर थे जिससे एक व्यक्ति राजाओं की स्वेच्छाचारिता तथा तानाशाहों, साम्राज्यवादियों एवं उपनिवेशकों के विरुद्ध अपना संरक्षण कर सका। व्यक्ति के अधिकारों द्वारा ही स्वतंत्र समाज में स्वतंत्र जीवन-यापन ने पहचान ली। मानव सभ्यता के इतिहास में 1945 में हुए जापान में परमाणु आक्रमण ने एक ऐसा आधार तैयार किया जिससे नये विश्व की दृष्टि समाहित किये संयुक्त राष्ट्र अस्तित्व में आया। जहां मानव कल्याण और मानव अधिकारों के सिद्धान्त द्वारा जाति, वर्ण, प्रदेश और धर्म के भेदभाव के बिना सामूहिक कल्याण के साथ व्यक्तिगत कल्याण की गारन्टी दी गई।<sup>8</sup> मानवाधिकारों के लिए समकालीन प्रयास 51 वर्ष पूर्व 10 दिसम्बर, 1948 को मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा से प्रारम्भ हुए। नानी पालकीवाला के अनुसार “यह विश्व अभी भी पाशविक हो सकता है लेकिन हमारे अतीत के अनुभव यह दर्शाते हैं कि विश्व परिष्कार कर रहा है। यद्यपि इसकी गति अत्यन्त धीमी है।”<sup>9</sup> महात्मा गांधी ने

कहा था—यह सदैव एक आश्चर्य बना रहेगा कि क्यों और कैसे एक व्यक्ति अपने ही बन्धु को अपमानित कर सम्मान का अनुभव कर सकता है।

संयुक्त राष्ट्र का मूलभूत दायित्व मानवाधिकारों की सुरक्षा है। संयुक्त राष्ट्र चार्टर की प्रस्तावना में सदस्य राष्ट्रों ने मूलभूत मानवाधिकारों तथा मानव के सम्मान और उसकी योग्यता में विश्वास व्यक्त किया है। धारा एक में संयुक्त राष्ट्र सदस्यों ने मानवाधिकारों के प्रति सम्मान तथा जाति, लिंग, भाषा और धर्म के भेदभाव के बिना सभी के लिए मूलभूत स्वतंत्रता की प्रतिज्ञा की है।

निःसन्देह जीने का अधिकार प्रथम मानवाधिकार है तथा जीवन का अर्थ अस्तित्व से कहीं अधिक है। किसी व्यक्ति को जीवन जीने (भरण-पोषण) के अधिकार से वंचित करना उसे जीवन से वंचित कर देना है।<sup>10</sup> महात्मा गांधी ने जोर देकर कहा था— कि प्रत्येक व्यक्ति को जीने का अधिकार है और इसलिए उसे अपने भरण-पोषण का अधिकार भी है। जीने का अधिकार एक मूलभूत मानवाधिकार होने के नाते उस समय विडम्बना हो जाता है जब कानून निष्प्रभावी बनकर अराजकता की स्थिति पैदा कर देते हैं। अतएव मानवाधिकारों का प्रावधान कर देना ही पर्याप्त नहीं है, उन्हें प्रभावी ढंग से लागू भी किया जाना चाहिए।

मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा के साथ ही इसे बहुत से नये राष्ट्रों के संविधानों में समाहित कर लिया गया और इसने अन्तर्राष्ट्रीय आचार संहिता पर एक सकारात्मक प्रभाव डाला। इस घोषणा पत्र की धारा 25 में यह उल्लिखित है कि प्रत्येक व्यक्ति को ऐसे जीवन स्तर का अधिकार है जो उसके और उसके परिवार के सदस्यों के लिए पर्याप्त हो, इसमें भोजन, वस्त्र, आवास और चिकित्सा सुविधायें सम्मिलित हैं। मानवाधिकारों के मामलों में संयुक्त राष्ट्र की प्रभावशीलता इसके सदस्य राष्ट्रों की अभिवृत्तियों से घनिष्ठ रूप से जुड़ी हैं। संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के अन्तर्गत प्रत्येक सदस्य राष्ट्र का यह दायित्व है कि वह अपने अधिकार क्षेत्र में मानवाधिकारों के प्रति सम्मान को सुनिश्चित करें। मानवाधिकारों के अन्तर्राष्ट्रीय बिल के प्रावधान सरकारों को ही सम्बोधित किये गये हैं।<sup>11</sup>

मानवाधिकार एक शताब्दी पूर्व अब्राहम लिंकन की उस घोषणा से अधिक विकसित नहीं हो पाये जिसमें उन्होंने कहा था—अधिकारों की घोषणा कर परिस्थितियों के अनुरूप तेजी से उन्हें प्रभावी बनायें जो सभी के द्वारा सम्मानित हों। जिसे सब समान दृष्टि से देखें, जिसके लिए सभी समान श्रम करें तथा जिसका प्रभाव समान रूप से व्यापक हो। एक समान खुशियां फैले तथा सभी वर्गों एवं क्षेत्रों में सर्वत्र जीवन का मूल्य हो।<sup>12</sup>

संयुक्त राष्ट्र का उद्भव अन्तर्राष्ट्रीय संकटों के शांतिपूर्ण निपटारे में अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व को पूरा करने के लिए हुआ था। संयुक्त राष्ट्र को हमें एक न्यायपूर्ण, सुरक्षित विश्व व्यवस्था

को शांतिपूर्ण साधनों से प्राप्त करने का अपूर्ण किन्तु अपरिहार्य साधन समझना चाहिये। अन्तर्राष्ट्रीय डिक्लोरेशन एवं कन्वेंशन में मानवाधिकारों के क्षेत्र में जो विकास हुआ है, तभी वास्तविक होगा जब वह स्थानीय स्तर पर निम्न से निम्न व्यक्ति के उत्थान से सम्बन्धित कार्यों में प्रतिबिम्बित होगा।<sup>13</sup> मानवाधिकार घोषणा पत्र को राष्ट्रों द्वारा वैश्विक स्वीकृति की भावपूर्ण अभिव्यक्ति करते हुए संयुक्त राष्ट्र पूर्व महासचिव ऊंथां ने तेहरान में आयोजित मानवाधिकारों पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में कहा था—40 से अधिक राष्ट्रों के संविधान जो हाल ही के वर्षों में बनाये गये हैं स्पष्ट रूप से वैश्विक घोषणा-पत्र से प्रभावित हैं,<sup>14</sup> लेकिन वे इस क्षेत्र में विकास की दृष्टि से पर्याप्त नहीं हैं।

प्रत्येक राष्ट्र मानवाधिकारों के हनन की रोकथाम के लिए अपने कानून बनाता है पर अभी भी यह विचारणीय है कि क्या उन कानूनों की शक्ति उतनी है जितनी की मानवाधिकारों के सम्मान के लिए आवश्यक है। अभी भी ऐसे बहुत से क्षेत्र एवं परिस्थितियाँ हैं जहाँ बड़े पैमाने पर मानवाधिकारों का हनन किया जा रहा है। दलाई लामा ने तिब्बत के सम्बन्ध में ऐसी परिस्थितियों का आकलन करते हुए कहा था— सम्पूर्ण तिब्बती क्षेत्र को शांति और अहिंसा का क्षेत्र घोषित कर देना चाहिए।<sup>15</sup> न केवल भारत के लिए अपितु सम्पूर्ण विश्व के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण कदम हो सकता है कि हिन्द महासागर को शांति क्षेत्र घोषित कर दिया जाए। युद्ध के स्थान पर शांति की मांग सर्वोच्च मानवाधिकार है। हिन्द महासागर में सैनिक अड्डों की सैनिक गतिविधियों के स्थान पर विश्वशांति की चाह रखने वालों के लिए हिन्द महासागर को शांति क्षेत्र घोषित किया जाना मील का पत्थर साबित हो सकता है। शांति केवल किसी भूमि के टुकड़े तक ही सीमित न होकर इसका विस्तार सम्पूर्ण जल, थल व नभ पर्यन्त होना चाहिए। किसी भी क्षेत्र के शांति क्षेत्र में घोषित होने से यह तथ्य भी स्पष्ट होगा कि शांति काल्पनिक नहीं है बल्कि वास्तविक है। महावीर से गांधी तक शांति और अहिंसा की संस्कृति शताब्दियों तक हिन्दुस्तान की माटी को महाकाती रही है। शांति हमारे खून में है, निश्चित ही उसकी गर्मी विश्व पर्यन्त फैलेगी।

विश्व मानव व्यवस्था एक कानूनी वास्तविकता है तथा शांति की संस्कृति प्रतिष्ठापित करने का कार्य संयुक्त राष्ट्र के चार्टर ने किया है। चार्टर के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रत्येक अधिकार और बाध्यताएं मानवाधिकारों के वैश्विक घोषणाओं में अप्रत्यक्ष रूप से अन्तर्निहित हैं। शांति को क्रियान्वित करने और मानवाधिकारों की वास्तविकता के लिए जो प्रयत्न आवश्यक हैं वे भविष्य के गर्भ में हैं। हमें कार्य की स्वतन्त्रता चाहिये। हमारे भाग्य निर्माण की स्वतन्त्रता चाहिये और ऐसे भारत के निर्माण की स्वतन्त्रता चाहिये जो इसके प्रतिभावान नागरिकों के अनुकूल हो।

सन्दर्भ

1. Nagendra Singh, Human Rights and the future of mankind, (1981) p. 5
2. Ratilal P. Dholaria, Advocacy: A Noble Profession, AIR 1994 Journal Section 1999.
3. Nagendra Singh, Human Rights and the future of mankind, (1981) p. 4-5
4. T.R. Subramanya, Human Rights in International Law, (1986) pp. 13,17
5. Nani A. Palkhivala, We the Nation, (1994) p. 25
6. Sophia Wadia, The Brotherhood of Religions, (1994) p. 191
7. Ulrich Kapren, Human Rights in the Constitution of the Western World: Some International Trends, (1989) p. 377, also see Nani A, Palkhivala, We the Nation, (1994) p. 23
8. Krishna Iyer, Human Rights and inhuman Wrong (1990) pp 4,5
9. Nani A. Palkhivala, We the Nation, (1994) p. 23
10. Richard B. Lallich, Civil Rights, In: Theodor Meron (ed.) Human Rights in International Law, vol. 1, p. 134
11. Kurt Waldheim, The Challenge of Peace, (1989) p. 140
12. These Rights and Freedoms, U.N. Department of Public Information, (1950) p. 169
13. Roberston, A.H., Human Rights in the World, (1972) p. 27
14. Moses Moskowitz, Human Rights and World order, (1958) p. 166
15. His Holiness the XIV Dalai Lama, On the Environment, (1994) p. 6.

अध्यक्ष, अहिंसा एवं शांति अध्ययन विभाग  
जैन विश्व भारती, संस्थान  
मान्य विश्वविद्यालय, लाडनूं



## कला

# राजस्थानी लोक नृत्य घूमर के कलामान

✍ जयचन्द्र शर्मा

राजस्थानी लोक संस्कृति का एक अंग संगीत एवं नृत्य भी है। नृत्य दृश्य कला है जबकि गायन एवं वादन श्रवण कलाएं हैं। दृश्य कला का प्रभाव दर्शकों पर शीघ्र होता है। लोक संगीत की स्वर लहरी का आनन्द प्रतिक्षण प्राप्त किया जा सकता है पर नृत्यकला का आनन्द विशेष अवसरों पर ही प्राप्त करने का प्रावधान है। ये अवसर धार्मिक, मांगलिक एवं आमोद-प्रमोद की दृष्टि से संबंधित होने के कारण नर्तक अथवा नर्तकी अपनी भावनाओं को नृत्य के माध्यम से हर समय प्रस्तुत नहीं कर पाते।

जिस प्रकार संगीत के सप्त-स्वरों का संबंध प्रकृति से हैं, उसी प्रकार शिव के सप्तताण्डव एवं सप्तमहारासों का संबंध भी प्रकृति से हैं। अन्तरिक्ष में स्थित सप्तग्रहों की नादात्मक शक्ति के आधार पर सुमधुर नाद (स्वर) की उत्पत्ति हुई। संगीत शास्त्रों में स्वरों की जन्मभूमि स्वरों के क्रमानुसार जम्बूद्वीप, शाकद्वीप, कुशद्वीप, क्रौंचद्वीप, शाल्मलिद्वीप, श्वेतद्वीप एवं पुष्करद्वीप का उल्लेख है। नृत्याध्याय में सप्त स्वरों की हस्त मुद्राएं, उनका विनियोग, वेशभूषा आदि का उल्लेख किया गया है।

अन्तरिक्ष में प्रचलित सप्त महारास मण्डलों के अनुरूप ही मानव लोक में अनेक

प्रकार के नृत्यों का प्रचलन हैं। प्राचीन काल में पंच-तत्त्व नृत्यों का प्रचलन रहा। उन नृत्यों के नाम हैं- आकाशविभाव, वायुर्विभाव, जलविभाव, अग्निविभाव एवं पृथ्वी विभाव। पृथ्वी विभावनृत्य के कलागानों पर विचार करने पर पाया जाता है कि राजस्थान का घूमर नृत्य ही प्राचीन काल में पृथ्वी विभाव नृत्य था।

राजस्थान के नृत्यकार एवं घूमर नृत्य की नर्तकी, घूमर नृत्य की मुद्राएं, अंगहार एवं कलामानों के बारे में कुछ भी नहीं जानते हैं और न उन्होंने इस संबंध में जानने का प्रयास किया। आज लोक संगीत एवं नृत्यकला पर शोध, प्रदर्शन एवं लेखन कार्य तीव्र गति से हो रहा है, पर लोक नृत्यों के गुण, प्रभाव, स्वभाव, मुद्राएं, पद-संचालन, अंग-प्रत्यंगों का संचालन एवं कलामान आदि को उजागर करने का प्रयास नहीं हो रहा है, जिसकी वर्तमान युग के शिक्षित कलाकारों के लिए अति आवश्यकता है।

हिन्दू संस्कृति के अनुसार यहां के लोक नृत्यों के साथ धार्मिक, आध्यात्मिक एवं मांगलिक भाव जुड़े हुए हैं, जिनका संबंध प्रकृति से हैं। राजस्थानी लोक नृत्य-घूमर के अंगहार पूर्णतया पृथ्वी तत्त्व अर्थात् पृथ्वी विभाग नृत्य के कलामानों के आधार पर प्रस्तुत किये जाते हैं। तत्त्व नृत्यों का प्रचलन अनादिकाल से चला आ रहा है। घूमरनृत्य के प्राकृतिक स्वरूप पर विचार करते हैं तो इस नृत्य की नर्तकी निम्न प्रकार से कलामानों के माध्यम से नृत्य को सजाती है। उसे उन कलामानों का ज्ञान नहीं है। उसकी नृत्यकला को गतिमान करने का सहयोग प्रकृति करती है। कलामान का एक अर्थ है गति। विभिन्न भावों को प्रकट करने के लिए गति (चाल) का प्रयोग किया जाता है। घूमर नृत्य के कलामानों की संख्या ग्यारह है। आगे इस विषय पर प्रकाश डाला जा रहा है।

- भ्रमरी- भ्रमरी का अर्थ है घूमना। इस क्रिया में नर्तकी एक ही स्थान पर घूमती है। घूमने का अर्थ चक्कर भी है।
- विस्तारिणी- इस क्रिया में आगे-पीछे, दांये-बांये चल कर नृत्य का विस्तार किया जाता है।
- भ्रमणी - भ्रमण का अर्थ भी घूमना है। इस क्रिया में नर्तकी पूरे रंगमंच का चक्कर लेती है।
- शिखरणी- शरीर को सीधा रख कर नृत्य करने की क्रिया को शिखरणी गति कहा है।
- शान्ता- इस गति में शरीर के प्रत्येक अंग-प्रत्यंगों का संचालन कोमलता के साथ किया जाता है। चेहरे पर मुस्कराहट के भाव दरसाने चाहिये।
- सलिला - इस क्रिया में गंगा की निर्मल धारा की भांति अंग-प्रत्यंगों का संचालन किया जाता है।
- सुजला - कमर की लचक के साथ नृत्य करने की क्रिया को सुजला गति कहा है।
- रत्ना- इस क्रिया में प्रत्येक भावों को घुमाव के साथ प्रस्तुत किया जाता है। इस



क्रिया का प्रभाव दर्शकों के मन को मोहने वाला माना गया है।

- नाशिनी - द्रुत-गति से अंग-प्रत्यंगों का संचालन करना, दोनों पावों से उछल-उछल कर नृत्य करना नाशिनी-गति कहलाती है।
- गृहिणी - घुंघट के भावों को प्रस्तुत करने का नाम गृहिणी गति है।
- पालनी- घाघरा के दोनों किनारों को पकड़ कर एवं फैला कर नृत्य करना पालनी गति कहलाती है। इसे मयूरी-मुद्रा भी कहते हैं।

उपर्युक्त ग्यारह गतियों (कलामानों) को तीन भागों में विभाजित किया गया है। प्रथम भाग की पांच गतियां बालिकाओं के लिए, द्वितीय भाग की तीन गतियां नव-वधुओं के लिए एवं अन्तिम तीन गतियां महिलाओं के लिए उपयोगी मानी गई हैं। प्रथम पांच कलामानों का पंच-तत्त्वों से संबंध है। द्वितीय तीन कलामानों का भगवती पार्वती के तीन लास्य-नृत्यों (लघुलास्य, विकटलास्य, विषम-लास्य) से संबंध है एवं अन्तिम तीन कलामानों का संबंध तीन महा देवियों (महालक्ष्मी, महासरस्वती, महाकाली) से है।

यह तो सर्वमान्य है कि शास्त्रीय नृत्यों का मूलाधार लोक नृत्य है। लोक नृत्य घूमर में नर्तकी अनेक प्रकार की मुद्राओं एवं कलामानों के माध्यम से अपनी कला को सुन्दर एवं आकर्षक बनाने का प्रयास करती है। उसे नृत्य संबंधी मुद्राओं एवं कलामानों का ज्ञान नहीं होने पर भी वह दर्शकों को प्रभावित कर लेती है। शास्त्रीय नृत्य कथक के कलामान भी घूमर नृत्य के अनुरूप पाये जाते हैं।

निदेशक

श्री संगीत भारती, बीकानेर 334001



## सूक्तियां

# राजस्थान में लौकिक सूक्तियां

डॉ. मनोहर शर्मा

राजस्थान दोहों का देश है। यहां अपभ्रंशकाल से ही 'दोहा' जन जीवन का अंग रहा है। आचार्य हेमचंद्र ने अपने व्याकरण ग्रंथ में अपभ्रंश के उदाहरण स्वरूप तत्कालीन लोक-प्रचलित दोहे दिए हैं। यह सामग्री अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसका देशी तथा विदेशी विद्वानों ने गंभीरता के साथ अध्ययन किया है और अपनी टीकाएं प्रयुक्त की हैं। निश्चय ही यह कार्य बड़ा श्रम साध्य है परन्तु साथ ही रोचक भी कम नहीं है। इसकी विषयगत विविधता विशेष ध्यान देने योग्य है।

इस साहित्य-सामग्री की भाषा को उत्तरकालीन अपभ्रंश कहा गया है परन्तु सही रूप में यह प्राचीन राजस्थानी अथवा जूनी गुजराती है। विशेषता यह है कि ये दोहे प्रायः आज भी राजस्थान तथा गुजरात में अपने परिवर्तित रूप में प्रचलित हैं और वार्तालाप में प्रयुक्त होते रहते हैं।

इनकी भाषा को 'पुरानी हिन्दी' भी कहा गया है परन्तु यह प्रदेश हिन्दी का क्षेत्र नहीं रहा। यह तो राजस्थानी तथा गुजराती की लीला-स्थली है। इस सामग्री में तत्कालीन राजस्थान तथा गुजरात का जन-जीवन स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

इन दोहों में राजस्थानी भाषा का आदिकालीन स्वरूप है, जिसको सहज ही पहचाना जा सकता है। उदाहरण के लिए इन दोहों के प्राचीन तथा अर्वाचीन दोनों रूप देखिए-

प्राचीन— जइ यहु रावणु जम्मियउ, दह मुंहु, इक्कु सरीर ।  
जणणी वियंमी चिन्तवइ, कवणु पियावहुं खीर ॥  
अर्वाचीन— राजा रावण जलमियो, दस मुख एक सरीर ।  
जननी नैं सासों भयो, किण मुख घालूं खीर ॥

\*\*\*

प्राचीन— वायसु उड्डावन्तिअए, पिउ दिठ्ठउ सहसत्ति ।  
अद्धा वलया महिहियग, अद्धा फुट्टु तडत्ति ॥  
अर्वाचीन— काग उडावण धण खडी, आयो पीव भडक्क ।  
आधी चूडी काग गळ, आधी गई तडक्क ॥

इसी प्रकार इन दोहों के गुजराती रूप भी प्रचलित हैं जो वहां यथा-प्रसंग वार्तालाप में प्रकट होते रहते हैं ।

राजस्थानी दोहों की यह हजार वर्षीय यात्रा समय-समय पर अपना नया-नया रूप-रंग प्रकट करती रही है, जो दर्शनीय है । जन-जीवन में कहावत का बड़ा महत्त्व है । ये दोहे भी एक प्रकार से कहावत का ही काम करते रहे हैं, जो इनकी लोकप्रियता के सूचक हैं ।

कहना न होगा कि पंद्रहवीं शती तक राजस्थानी तथा गुजराती भाषा का स्वरूप समान ही था । इसके बाद इन दोनों ने अपना स्वतंत्र रूप धारण करना प्रारम्भ किया । पंद्रहवीं शती तक इन दोनों भाषाओं का साहित्यिक-इतिहास अभिन्न है, साथ ही साहित्यकार भी समान ही हैं ।

आगे आदिकालीन राजस्थानी की कुछ सूक्तियां दी जा रही हैं । इनका भाषा-सौष्ठव दर्शनीय है—

पुत्ते जाए कवणु गुणु, अवगुणु कवणु मुएण  
जा बप्पी की भुहडी, चम्पिज्जइ अवरेण ॥ १ ॥

(ऐसा पुत्र पैदा होने से क्या लाभ और मर जाने से क्या हानि, यदि उसके रहते पूर्वजों की धरती पर दूसरे लोग अधिकार कर लेवें।)

अम्हे थोवा रिउ बहुअ, कायर एम्ब भणन्ति ।

मुद्धि निहालइ गयणयलु, कइ जण जोण्ह करन्ति ॥ २ ॥

(हम थोड़े हैं शत्रु अधिक हैं ऐसा तो कायर लोग कहते हैं । हे मुग्धे ! क्या आकाश में चांदनी फैलाने वाले अनेक हैं?)

ते मुग्गडा हराविया, जे परिविट्ठा ताहँ ।

अपरोप्परु जोअन्ताहं, सामिउ गज्जिउ जाहँ ॥ ३ ॥

(वे मूंग व्यर्थ गए, जो ऐसे लोगों को परोसे गए, जो इधर-उधर देखते रहे और रणखेत में स्वामी नष्ट हो गया ।)

गुणहि न संपइ कित्ति पर, फल लिहिआ भुज्जन्ति ।

केसरि न लहइ वोड्डिअवि गय लक्खेहिं घेपन्ति ॥ ४ ॥

(गुण से सम्पत्ति भले ही न मिले परन्तु कीर्ति तो मिलती ही है । सिंह को कोई कौड़ी में भी नहीं खरीदता और हाथी लाख में बिकता है ।)

धवलु विसूरइ सामिअहो, गरूआ भरू पिक्खेवि ।

हउं कि न जुत्तउं दुहं, दिसिहि, खण्डइ दोण्णि करेवि ॥ ५ ॥

(स्वामी का बड़ा भार देखकर धवल (बैल) भारी खेद का अनुभव करता है और कहता है कि दो टुकड़ों में बंटकर मैं ही गाड़ी के दोनों ओर क्यों न जुट गया ।)

जइ पुच्छइ घर बड्डाइं, तो बड्डा घर ओइ ।

विहलिय जण अब्भुद्धरणु, कन्तु कुटीरइ जोइ ॥ ६ ॥

(यदि बड़े घर का पता पूछते हो तो बड़ा घर वह कुटिया है, जहां मेरा पति दूसरों की पीड़ा दूर करने के लिए बैठा है ।)

गयउ सु केसरि पियहुजलु, निच्चिन्तइ हरिणाइं ।

जसु केरए हुंकारउए, मुहहुं पडन्ति तृणाहं ॥ ७ ॥

(अरे हरियारे! निश्चिंत होकर जल पी लो । वह सिंह चला गया, जिसकी हुंकार मात्र से तुम्हारे मुंह में लिया हुआ घास गिर पड़ता था ।)

ध्यान रखना चाहिए कि यह भाव-धारा आगे भी राजस्थानी काल में चलती रही है । आधुनिक युग के राजस्थानी कवि बांकीदास आशिया तथा सूर्यमल्ल मीसण ने भी अपनी वाणी में इसे प्रकट किया है, जो बांकीदास के दोहा काव्यों-‘धवल पचीसी’ आदि तथा सूर्यमल्ल की ‘वीर सतसई’ में द्रष्टव्य है ।

इसी क्रम में मध्यकालीन राजस्थानी लौकिक सूक्तियों के उदाहरण भी देखिए-

दीहा दोस न नरवरां, के दीहा आवंत ।

द्रोपद रो अम्बर ग्रहण, अरजण-भीम सहंत ॥ १ ॥

(दोष दिन-दशा को है, श्रेष्ठ व्यक्तियों को नहीं । न जाने किसके सामने कैसा दिन आ जाए । द्रौपदी का वस्त्र-हरण हो रहा था और अर्जुन, भीम चुप बैठे देख रहे थे ।)

समै ज जोबन, समै धन, समै ज दुसह समत्थ ।

गोपी राख ने सक्कया, सोधन-सर सो पत्थ ॥ २ ॥

(यौवन का समय होता है। इसी प्रकार धन का भी समय है। सामर्थ्य का भी समय होता है। अर्जुन वही था, उसके धनुष-बाण भी वे ही थे परन्तु वह यदुवंश की महिलाओं को नहीं बचा सका और भील उन्हें लूट कर ले गए।)

कागा जिंसा कुमाणसा, पांखां बल फल खाय ।

सिंघ सबल पण पंख विण, नीचा फिर-फिर जाय ॥ ३ ॥

(प्रबल पक्ष होने से दुष्ट व्यक्ति भी कौवे के समान पांख वाला होने के कारण फल खाता है। परन्तु पक्ष (पांख) के अभाव में सिंह बलवान होने पर भी धरती पर ही घूमता-फिरता है।)

जेहि जेतौ, तेहि तेतलौ, विह आगलो न देय ।

सामर भरियो मोतियां, झींवर मच्छा लेय ॥ ४ ॥

(विधाता किसी को भी उतना ही देता है, जितना कि उसका भाग्य-लेख होता है। वह अधिक नहीं देता। समुद्र मोतियों से भरा रहता है परन्तु झींवर वहां से केवल मछली ही लेता है।)

करता तोलै ताखड़ी, लेयर सबै करम्म ।

सौ सुकृत इक पालड़े, एको साम-धरम्म ॥ ५ ॥

(कर्त्ता सब के कर्मों को लेकर तराजू पर उन्हें तोलता है। तराजू के एक पलड़े में सौ सुकृत और दूसरे में स्वामि-धर्म दोनों बराबर तोल के होते हैं।)

सिर जावो सो नाक सुं, नाक न जावो चक्ख ।

पाणी पुटक न जावज्यो, लोही जावो लक्ख ॥ ६ ॥

(नाक सहित सारा सिर चला जाए तो कोई विचार नहीं परन्तु केवल नाक जरा भी नहीं जाना चाहिए। पानी की एक बूंद भी न जाए, रक्त भले सम्पूर्ण ही चला जाए)

खग्ग सरोवर मुत्तहल, नर-नारी तुरियाहं ।

पाणी जाह न अग्गलउ, गउ गरुयत्तण तांह ॥

(तलवार, सरोवर, मोती, नर-नारी और घोड़ा यदि इन सब में पाणी की खूबी नहीं है तो फिर इनकी गरिमा समाप्त ही है। तलवार=तेज धार। सरोवर=जल। मोती = चमक। नर-नारी =इज्जत। घोड़ा = चंचलता, तेजी।)

केहरी-केस, भुजंग-मिण, सरणाई सुहड़ांह ।

सती-पयोधर, कृपण-धन, पड़सी हाथ मुवांह ॥ ८ ॥

(सिंह के केश, सर्प की मणि, शूरवीर का शरणागत, सती का स्तन और कृपण का धन, इन सब को इनकी जीवित अवस्था में कोई नहीं छू सकता। इनके मरने पर ही ये तो दूसरे के हाथ में जा सकते हैं।)

भुंय तत्ती, दिणयर तपै, जाण न पावै भग्ग।

जाणे मोर-कलाप रै, रूंधो कालो नग्ग ॥ ९ ॥

(धरती तप रही है। सूरज भी तेजी से तप रहा है। कहीं जाने के लिए रास्ता नहीं मिलता, ऐसी स्थिति में सब कुछ समझते हुए भी काला नाग मयूर की पांखों में प्रवेश करता है।)

यह सामग्री नाना प्रकार की है और बड़ी रोचक भी है। इन सूक्तियों की भाषा अधिक कठिन नहीं है। ये दोहे विविध हस्त-प्रतियों में देखे जाते हैं। इसी क्रम में आगे आधुनिक युग की राजस्थानी सूक्तियां भी नमूने के रूप में दी जाती हैं, जिनकी भाषा एकदम सरल बोलचाल की राजस्थानी है-

पापी पुत्रां नां करै, करै न करबा देह।

खेतां में अड़बा खड़या, चरै न चरबा देह ॥ १ ॥

गावंतो गायक हुवै, घोखंतो कवि होय।

पूछंतो पंडित हुवै, फिरतो धूरत होय ॥ २ ॥

नरां तुरां अर नाहरां, जात न वाखाणीह।

बाप एराकी क्या हुवा, मा जो टटवाणीह ॥ ३ ॥

नारी क्यारी सजण-जण, विद्या गान किसान।

एता वेगि संभाळिये, धान पान जजमान ॥ ४ ॥

माणस लहर संसार की, जीवै जौ-लग मांण।

मूवां पाछै देवळी, भाटै री सहनांण ॥ ५ ॥

न्हावण पाणी ओर है, पीवण पाणी ओर।

धन-धावण नैं ओर है, धन रै नन्दकिशोर ॥ ६ ॥

वर्तमान काल में शहरों और गांवों में प्रचलित सूक्तियों में भाषा तथा वातावरण का जरा अन्तर नजर आता है। अतः आगे गांवों की कुछ सूक्तियां भी नमूने के रूप में दी जाती हैं-

पीपल काटै, हल घड़ै, धन कन्या पर खाय।

सींव तोड़ खेती करै, जड़ामूल सूं जाय ॥ १ ॥

सादू-साख, गंडक-धन, रोटी परलो कैर।

बो मेलै, बो गिर पड़ै, अंत बैर को बैर ॥ २ ॥

आधो रहगो ऊखली, आधो रहगो छाज ।

सांगर साटै धण गई, अब मधरो-मधरो गाज ॥ ३ ॥

ऊंचै मगरै जाटणी, नेहड़लो नीवार ।

दोनू बातां हो नहीं, लालियो अर जँवार ॥ ४ ॥

धूवै अंधेरै पुन बायरै, चाकी कै घरराटे ।

इतरी जगां पीलै तमाखू, दाम बायदे काटै ॥ ५ ॥

यह सम्पूर्ण साहित्य-सामग्री अत्यंत रोचक एवं प्रेरणादायक है। इन सूक्तियों के रचनाकार अज्ञात हैं। ये अनेक विद्वानों द्वारा अपने ग्रंथों में प्रयुक्त होती रही हैं। इस सामग्री के संग्रह की ओर भी विद्वानों का ध्यान गया है। आचार्य हेमचन्द्र आदि द्वारा प्रयुक्त प्राचीन राजस्थानी सूक्तियों पर स्व. पं. चंद्रधर शर्मा गुलेरी का विस्तृत आलेख 'पुरानी हिन्दी' प्रख्यात है और पुस्तक रूप में भी प्रकाशित है।

इसके बाद श्री नरोत्तमदास स्वामी ने इस दिशा में सराहनीय काम किया। उनके 'राजस्थानी दोहा-संग्रह' को अच्छी लोकप्रियता प्राप्त हुई। फिर उन्होंने 'राजस्थानी दूहा विहार' तैयार किया, जो उनके जीवन-काल में प्रकाशित नहीं हो सका और उनके अनुज श्री पुरुषोत्तम दास ने उसे 'राजस्थानी गंगा' पत्रिका में क्रमशः प्रकाशित किया। इन स्वामी बन्धुओं की यह राजस्थानी सेवा सदैव अविस्मरणीय रहेगी।

इसके अतिरिक्त पुरानी जैन-कथाओं तथा राजस्थानी बातों में ऐसी सूक्तियां बड़ी संख्या में प्रयुक्त हैं। उनका संग्रह अभी तक नहीं हो पाया है। निश्चय ही यह कार्य बड़ा श्रमसाध्य है परन्तु साथ ही अत्यंत आवश्यक भी है। आशा है, राजस्थानी साहित्य-साधक विद्वान् इस दिशा में सचेष्ट होंगे।

डॉ. मनोहर शर्मा

रानी बाजार, बीकानेर (राजस्थान)



## नीति शास्त्र

# जैन दर्शन में नैतिक मान्यताएं

✍ सुनन्दा कुमारी

नीतिशास्त्र की कुछ मान्यताएं हैं, जिन्हें नैतिक निर्णय का आधार कहा जाता है। इस मान्यताओं में आत्मा, संकल्प-स्वातंत्र्य, स्वतंत्रतावाद और नियतिवाद प्रमुख हैं। यह विश्व आत्मा एवं अनात्मा तथा जड़ एवं चेतन का संयोग है, अतः आत्मा ही नैतिकता का आधार है। 'सूत्रकृतांग' में भी मूल तत्त्व 'चेतन' को स्वीकारा गया है। जैन दार्शनिक जड़ एवं चेतन के द्वैत को स्वीकारते हुए उसे स्वतंत्र मानते हैं। आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में अभौतिक है जबकि नैतिक जीवन के लिए सशरीरी व्यक्तित्व चाहिए।

'भगवती सूत्र' में जैन दार्शनिकों का कहना है कि जीव या आत्मा शरीर भी है और शरीर से भिन्न भी है। आत्मा और शरीर के बीच भिन्नत्व और एकत्व दोनों विद्यमान हैं। 'उत्तराध्ययन सूत्र' में कहा गया है कि आत्मा ही सुखों एवं दुःखों का कर्ता और भोक्ता है। चेतना को आत्मा का स्वलक्षण माना गया है। शंकराचार्य इसका समर्थन करते हुए कहते हैं, निर्वाण या मुक्ति की अवस्था में आत्मा चैतन्य रहता है। चेतना के अभाव में नैतिक उत्तरदायित्व एवं विवेक असंभव है। 'तत्त्वार्थ सूत्र' में चेतना के निम्न दो प्रकार स्वीकार किये गये हैं-

1. **ज्ञानात्मक चेतना ( ज्ञानोपयोग )** - जैन दर्शन में ज्ञान को आत्मा का स्वभाव माना गया है। ज्ञान के अभाव में नैतिक आदर्श का बोध, नैतिक विकास, शुभाशुभ तथा विवेक-अविवेक असंभव है। 'तत्त्वार्थसूत्र' में ज्ञानोपयोग के



पांच प्रकार माने गये हैं- मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनः पर्यायज्ञान और केवलज्ञान।

2. **अनुभूयात्मक (दर्शनोपयोग)** - इसके चार प्रकारों को स्वीकार किया गया है - चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन। आत्मा में आत्म-निर्णय लेने की क्षमता आवश्यक है जो नैतिक जीवन के लिए भी अपेक्षित है।

जैन दर्शन में आनन्द को आत्मा का स्वलक्षण माना गया है। यह विचार वेदान्त दर्शन से समानता रखता है, जहां ब्रह्म को 'सच्चिदानन्द' माना गया है। इसके अतिरिक्त जैन दर्शन में आत्मा को कर्ता एवं भोक्ता माना गया है।

'उत्तराध्ययन सूत्र' में आत्मा को सुख एवं दुःखों का कर्ता और भोक्ता कहा गया है। 'समयसार' के अनुसार व्यावहारिक दृष्टि से आत्मा भोक्ता है और पारमार्थिक दृष्टि से मात्र द्रष्टा है। जैन नीतिशास्त्र में आत्मा को रूप, रस, वर्ण, गंध, स्पर्श आदि से विसर्जित कहा है, फिर भी आत्मा को शरीर रूप में स्वीकारा गया है। आकार के संबंध में जैन दार्शनिकों का कहना है कि आत्मा अणु (सूक्ष्म रूप) और विभु (सम्पूर्ण लोक में व्याप्त) है। जैसे दीपक का प्रकाश छोटे कमरे में रहने पर छोटे रूप तथा बड़े कमरे में रहने पर बड़े रूप में प्रकाशित होता है।

आत्मा को संख्या की दृष्टि से 'स्थानांग सूत्र' में एक और 'भगवती सूत्र' में अनेक माना गया है। जैसे-समुद्र का जल जलराशि की दृष्टि से एक और जल बिन्दुओं की दृष्टि से अनेक है। आत्मा का व्यक्तित्व देश-काल और परिस्थिति के अनुसार बदलता रहता है। फिर भी आत्मा नित्य है।

'नित्यतावाद' के अनुसार आत्मा अनादि और शाश्वत है। जैन दार्शनिक नित्य आत्मवाद और अनित्य आत्मवाद दोनों को दोषपूर्ण मानते हैं। आत्मा को नित्य मानने से सुख-दुःख, शुभ-अशुभ और बंधन-मोक्ष संभव है। इसे अनित्य या क्षणिक मानने पर सत्कर्म एवं दुष्कर्म से उत्पन्न सुख-दुःख, पाप-पुण्य संभव नहीं है। अतः सापेक्ष रूप से दोनों को स्वीकार किया गया है।

जैन दार्शनिक कर्म सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए आत्मा की अमरता और पुनर्जन्म को स्वीकारते हैं। संकल्प-स्वातंत्र्य के रूप में आत्मा को स्वतंत्र माना गया है। जब मनुष्यों में इच्छा संघर्ष होता है, तब व्यक्ति अपनी स्वतंत्र इच्छा से किसी का चुनाव कर सकता है। वह बाह्य परिस्थिति से और प्राकृतिक प्रवृत्तियों से संचालित नहीं होता है। इसे 'स्वच्छन्दतावाद' की संज्ञा भी दी जाती है।

इसके विपरीत नियतिवादी दृष्टिकोण के अनुसार सब कुछ पूर्व नियत है। इसके संबंध में दार्शनिकों में मतभेद है, जिसका वर्णन संगमलाल पाण्डेय द्वारा रचित 'नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण' में मिलता है। इसके निम्न रूप हैं-

- (अ) भवितव्यतावाद- इसके अनुसार भावी घटनाएं पूर्व नियत हैं, उसमें परिवर्तन संभव नहीं है। पूर्व नियत घटनाएं स्वतः घटती जाती हैं।
- (ब) कालवाद-सृष्टि की समस्त क्रियाएं काल के अधीन एवं उसके गर्भ में स्थित हैं। 'जैन तत्त्वमीमांसा' के अनुसार भी समस्त परिवर्तनों का आधार काल है। व्यक्ति के सुख-दुःख, वैयक्तिक भिन्नताएं तथा उनकी क्रिया-कलापों का कारण काल है।
- (स) स्वभाववाद - सांसारिक विविधताओं का कारण उसका स्वभाव है, जैसे अग्नि की ऊष्णता एवं जल की शीतलता स्वाभाविक हैं। जैन दर्शन के अनुसार आध्यात्मिक क्षेत्र में विकास उसके स्वभाव पर निर्भर करता है। 'तत्त्वार्थ सूत्र' में कहा गया है- व्यक्ति की पूर्वबद्ध कर्म प्रवृत्तियां ही उसका स्वभाव है।
- (द) भाग्यवाद -सब कुछ हमारे भाग्य पर निर्भर है, उसमें स्वेच्छा से परिवर्तन संभव नहीं है।
- (इ) ईश्वरवाद :-हमारी व्यक्तिगत इच्छाएं एवं कर्म ईश्वर द्वारा निर्धारित हैं। जैन दर्शन अनीश्वरवादी होने के कारण इसका महत्त्व जैनागमों के लिए नहीं है।

जैन दर्शन नियतिवाद के रूप में सर्वज्ञता एवं कर्म सिद्धान्त दोनों को स्वीकारता है। जैनागमों में तीर्थंकरों को 'त्रिकालज्ञ सर्वज्ञ' कहा गया है। उत्तरकालीन जैन ग्रंथों ने त्रैकालिक ज्ञान संबंधी विचार को 'सर्वज्ञत्व' कहा गया है। नियतिवाद के विभिन्न रूपों का समर्थन करते हुए जैन दार्शनिक इसकी उपयोगिता के संबंध में कहते हैं- यह दुःखद अवस्थाओं में भी धैर्य एवं समभाव रखना और सुखद अवस्थाओं में अहंकार और कर्तृत्वभाव के दोषों से बचाकर पूर्णतया निष्काम जीवन जीना सिखाता है। किसी मनुष्य से घृणा, तिरस्कार, उपहास, ईर्ष्या या क्रोध नहीं करना सिखाता है। बल्कि समत्व भावना होनी चाहिए। नियतिवाद का बंधन अतीत एवं संकल्प स्वातंत्र्य का भावी जीवन से संबंध है। जैन दार्शनिकों ने आत्म स्वतंत्रता को स्वीकारा है, लेकिन इच्छा स्वातंत्र्य को नहीं, क्योंकि इच्छा को करने वाली चेतना या आत्मा ही वास्तव में स्वतंत्र है।

डॉ. राधाकृष्णन का कहना है कि जीवन ताश के पत्तों के खेल की तरह है। पत्ते हमें बांट दिये जाते हैं, चाहे वे अच्छे हों या खराब। यहां तक नियतिवाद है, परन्तु हम खेल को अच्छे ढंग से या खराब ढंग से खेल सकते हैं। एक कुशल खिलाड़ी के पास खराब पत्ते आये हों, फिर भी वह खेल में जीत जाए। यह भी संभव है कि एक खराब खिलाड़ी के पास अच्छे पत्ते आयें और वह खेल का नाश कर दें। अतः हमारा जीवन तो स्वतंत्रता एवं चुनाव का मिश्रण है। हम चुनाव का समुचित प्रयोग करते हुए सब तत्त्वों पर नियंत्रण कर सकते हैं और प्रकृति से नियतिवाद को समाप्त भी कर सकते हैं। स्वभावतः हम स्वतंत्र हैं और स्वयं अपनी ही तुलसी प्रज्ञा जुलाई—सितम्बर, 1999

वासनाओं एवं आसक्तियों के बन्धन से घिरे हैं। उन बंधनों को समाप्त कर पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त कर सकते हैं।

### संदर्भ ग्रंथ

1. आत्रेय, भीखनलाल, भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास, पृ. 71
2. तत्त्वार्थ सूत्र, 5/22
3. डॉ. राधाकृष्णन्, जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि पृष्ठ 292
4. उपाध्याय, भरत सिंह, जैन दर्शन और अन्य भारतीय दर्शन, प्रथम भाग, पृष्ठ 511
5. आचारांग, पृ. 1/3/5.

व्याख्याता, दर्शनशास्त्र विभाग,  
महिला महाविद्यालय, धनबाद



## संस्कार-परम्परा

# दीक्षा-विमर्श

हरिशंकर पांडेय

१. प्ररोचना— भारतीया संस्कृतिः पुरुषार्थमूला । पुरुषार्थचतुष्टयस्य धर्मार्थकाममोक्षस्य परिकल्पनाऽत्र परिदृश्यते । धर्मार्थकामानां सम्यक्परिपालनं कृत्वान्ते मोक्षरूपपरमपुरुषार्थस्य<sup>१</sup> सिद्धिरेव भारतीयानां लक्ष्यभूता ।

मानवीयजीवनयात्रा मोक्षैव पर्यवस्यति । यात्रायामस्यां दीक्षायाः महत्त्वं सार्वजनीनम् । दीक्षया दीक्षितो जनः द्रागेव परम पुरुषार्थमुपैति सदाशिवपदं चाप्नोति । रत्नत्रयाख्ये ग्रन्थे निगदितमस्ति—

सदाशिवपदं योगाच्चर्यातो वाऽथ दीक्षया ।

प्राप्यते चित्तभेदेन मोक्षो वाऽथ चतुष्टयात् ॥

२. दीक्षास्वरूपम्— भ्वादिगणीय— 'दीक्षमौण्ड्येज्योपनयननियमव्रतादेशेषु,<sup>२</sup> धातोः अङ्किटापि च कृते दीक्षाशब्दस्य सिद्धिः भवति । सा तु विमलज्ञानप्रकाशिका कर्मवासना विनाशिका च । समर्पणरूपा संस्कारनिर्मायिता च । श्री गुरुदेवस्य परमपवित्रसंस्कृत कृपया सह शिष्यस्य अन्यथासिद्धश्रद्धयाश्च सम्मेलनं दीक्षा । गुरोरात्मदानं शिष्यस्यात्मसमर्पणञ्चैकस्य कृपयाऽन्यस्य श्रद्धातिरेकेन च संभवतः । आचार्यकृतो निरधिकरणो वा शिष्यस्यानुग्राह्यविषयः शाक्तो व्यापारः दीक्षोच्यते । दीक्षातो बंधजालस्य ध्वंसनं भवति<sup>३</sup> । दीक्षाविषयिनी व्युत्पत्तिमूलक परिभाषाः भाषिताः तन्त्राचार्यैः विद्वद्भिश्च । उक्तमस्ति

दीयते विमलं ज्ञानं क्षीयते कर्मवासना ।

तेन दीक्षेति सा प्रोक्ता मुनिभिस्तन्त्रवेदिभिः ॥<sup>४</sup>

तन्त्रसाराख्ये तन्त्रग्रंथे दीक्षाशब्दस्य व्युत्पत्तिः प्रदर्शिताऽस्ति  
दीव्यं ज्ञानं यतो दद्यात् कुर्यात् पापस्य संक्षयः।  
तस्माद् दीक्षेति सा प्रोक्ता मुनिभिस्तन्त्रवेदिभिः ॥<sup>5</sup>

सा तु पापविनाशिका शक्तिः-

दीयते ज्ञानसंभारः क्षालनात् पापसन्ततेः।  
ततो दीक्षेति सा प्रोक्ता मुनिभिस्तन्त्रवेदिभिः ॥<sup>6</sup>

दीक्षा मलत्रयस्य क्षायिका शिवतादात्म्यदात्री च । रुद्रयामले निगदितमस्ति-  
ददाति शिवतादात्म्यं क्षिणोति च मलत्रयम्।  
अतो दीक्षेति सम्प्रोक्ता दीक्षातन्त्रार्थवेदिभिः ॥<sup>7</sup>

योगिनी तन्त्रे लिखितमस्ति-

दीयते ज्ञानमत्यर्थं क्षीयते पाशबन्धनम्।  
अतो दीक्षेति देवेशि! कथिता तत्त्वचिन्तकैः ॥<sup>8</sup>

सर्वार्थसिद्धि प्रवर्तिका दीक्षा दिव्यभावस्य प्रदात्री । निगदितमस्ति गौतमीयतन्त्रे-  
ददाति दिव्यभावं च क्षिणुयात् पापसंहतिम्।  
तेन दीक्षेति सा प्रोक्ता मुनिभिस्तन्त्रपारगैः ॥<sup>9</sup>

दीक्षया मनसावाचाकर्मणा चोपार्जितपापानां जीवतः विश्लेषः शरीरशुद्धिः  
शक्तिज्ञानसमुत्पत्तिश्चेत्युक्तम्-

मनसाकर्मणावाचा यत् पापं समुपार्जितम्।  
तेषां विश्लेषकरणी परमज्ञानदा यतः ॥<sup>10</sup>

विज्ञान फलदा लयकारिणी शुभदामुक्तिदादिभिर्विशेषणैरलंकृतेयं दीक्षा। यदा गुरुः  
जन्मजन्मान्तराभ्याससमाधिसंस्कारवशादुपार्जितज्ञानरत्नानां शिष्यहृदये निवेशनं संस्थापनं च करोति  
सैव दीक्षा भवति। तदा ज्ञानविज्ञानरूपरत्नविभूषितरसमयसागरे शिष्यनिमज्जनं सहजतया संभवति।  
दीक्षादीक्षितः गुरुचरणपन्नः शिष्यः अतीतानागतवर्तमानविप्रकृष्टव्यवहितपदार्थानां  
ग्रहणसमर्थो भूत्वान्ते तु परमशिवसुखलावण्यमण्डितानन्दनगरे विराजते नात्र संदेहावसरः।  
भावातीतत्रिगुणरहितसमस्तगुणगणालंकृतो गुरुः दीक्षाव्याजेन आत्मज्ञानं दत्त्वा  
जन्मजन्मान्तरार्जितकर्मरण्याणि द्रागेव दहति। विवृणितमित्थं विश्वतन्त्रे

अनेकजन्मसम्प्राप्तकर्मबंधनविदाहिने।

आत्मज्ञानप्रदानेन तस्मै श्री गुरवे नमः ॥<sup>11</sup>

3. दीक्षायाः महत्त्वम्— दीक्षामन्तरेण न कश्चिदर्थस्य पुरुषार्थस्य वा सिद्धिर्भवति। तथा  
संस्कारितो भूत्वा शिष्यः समर्थगुरु-निर्देशनमवाप्य स्वयात्रायां साफल्यमाप्नोति। दीक्षितो जनः

शीघ्रमेवाचिन्त्यफलमपि हस्तगतं कर्तुं शक्नोति । तथैव देवत्वस्य दिव्यज्ञानस्य च लब्धिः भवति ।  
उक्तमस्ति विश्वसारतन्त्रे-

यस्य विज्ञानमात्रेण देवत्वं लभते नरः ।

दिव्यज्ञानं यतो दद्यात् कुर्यात् पापक्षयं यतः ॥<sup>12</sup>

अदीक्षितः पुरुषः कदापि सिद्धिं नाप्नोति । तस्य गमनं रौरवनरके भवेदित्युक्तिः -  
अदीक्षितोऽपि मरणे रौरवं नरकं व्रजेत्<sup>13</sup> ॥ दीक्षया संसारजालस्य ध्वंसनो<sup>14</sup> भवति  
बन्धनापगमोऽपि<sup>15</sup> । सद्यो निर्वाणदीक्षया देहस्यापि क्षयो जायते ।<sup>16</sup> एतादृशगुणोपेता सा  
धर्माधर्मक्षयकरी मुक्तिमप्यतिशायिनी च

सिद्धिर्व्यापार निर्मुक्ता मुक्तिरप्यतिशायिनी ।

यत्र तत्को न गृह्णाति साधनं श्रुतिभूषणम् ॥<sup>17</sup>

अतो दीक्षायाः सर्वमूलत्वमुद्घोषितम्-

दीक्षामूलं जपं सर्वं दीक्षामूलं परन्तपः ।

दीक्षामाश्रित्य निवसेत् यत्रकुत्राश्रमे वसन् ॥<sup>18</sup>

4. दीक्षाप्रकाराः-

4.1 - सामान्यतया शाक्तीशाम्भवीमान्त्रीत्याख्यादीक्षायाः त्रयो भेदाः स्वीक्रियन्ते ।

**शाक्ती दीक्षा**— परमचेतनस्वरूपा कुण्डलिनी एवात्रशक्तिशब्दवाच्या । तां जागरणं कृत्वा  
ब्रह्मनाड्या शिवेन सह सम्मेलनमेव शाक्ती दीक्षा । दीक्षायामस्यां श्रीगुरुदेवः स्वयमेव शिष्यान्तर्देहे  
प्रविश्य कुण्डलिनीशक्तिं जागरयति । अस्यां शिष्येन न किञ्चिदपि कृत्यो भवति । सर्वं तु  
श्रीगुरुरेव महत्कृपया सम्पादयति । शारदातिलकस्य टीकायामुल्लिखित-मस्ति

शाक्ती ज्ञानवती दीक्षा शिष्यदेहं प्रविश्य तु ।

गुरुणा योगमार्गेण क्रियते ज्ञानचक्षुषा ॥<sup>19</sup>

**शाम्भवी दीक्षा** — श्रीगुरुदेवः स्वकृपादृष्ट्या स्पर्शमात्रेण च क्षणादेव शिष्यं निजस्वरूपे  
संस्थापयति । गुरोः दर्शनमात्रेण शिष्यस्य सहस्रारचक्रमुत्फुल्लयति । तत्क्षणमेव स शिष्यः  
समाधिस्थो भूत्वा कृत्यकृत्यो भवति । निगदितमस्ति

गुरोरालोकमात्रेण स्पर्शाद् संभाषणादपि ।

सद्यः संज्ञा भवेज्जन्तो दीक्षा सा शाम्भवीमता ॥<sup>20</sup>

**मान्त्री दीक्षा**- या मन्त्र पूजासनन्यासध्यानादिभिः सम्पन्ना भवति सा मान्त्री दीक्षा । श्रीगुरुदेवः  
मन्त्रस्योपदेशं शिष्यहिताय करोति । शिष्यः गुरुप्रदत्तमन्त्रस्यानुष्ठानं कृत्वा विदन्ति सिद्धिम् ।  
उक्तमस्ति

मान्त्री क्रियावती दीक्षा कुम्भमण्डलपूर्विका ॥<sup>21</sup>

4.2. शारदातिलके दीक्षायाः चतुरभेदाः वर्णिताः सन्ति- क्रियावती वर्णमयी कलावती वेधमयी च ।<sup>22</sup>

4.2.1- **क्रियावती**— क्रिया कर्मकाण्डाश्रिता दीक्षा क्रियावती । सन्ध्याप्राणायाम-भूतशुद्धिन्यासध्यान पूजाशंखस्थानप्रभृति हवनपर्यन्तं कर्माणि सम्पाद्यते तदनन्तरं मन्त्रदानं करोतिगुरुः । मन्त्रं प्राप्य शिष्यः कृतकृत्यो भवति ।<sup>23</sup>

4.2.2. **वर्णमयी**— वर्णमयी दीक्षा न्यासरूपा । अस्यां तु शरीरे अकारादिवर्णानां सविधिन्यासक्रिया सम्पाद्यते । श्रीगुरुदेवः निजशक्त्यैव प्रतिलोमविधिना संहारक्रमेण वा न्यस्तवर्णान् विलीनयति । क्रियासम्पन्ने सति शिष्यः दिव्यभावभावितो भूत्वा परमानंदस्वरूपमवाप्य कृतकृत्यो भवति धन्यो भवति ।<sup>24</sup>

4.2.3. **कलावती**— कलावती दीक्षासंहारविसर्गरूपा । मानवीयशरीरे पञ्चशक्तयः प्रतिष्ठिता सन्ति । ता च निवृत्तिप्रतिष्ठाविद्या-शान्ति शान्त्यातीतकलाशक्तिश्च । पादतः जानुपर्यन्तं निवृत्तिशक्तिः जानुतः नाभिपर्यन्तं प्रतिष्ठाशक्तिः नाभितः कण्ठपर्यन्तं विद्याशक्तिः कण्ठतः ललाटपर्यन्तं शान्तिशक्तिः ललाटतः शिखापर्यन्तं शान्त्यातीतकलाशक्तिश्च विराजन्ते । संहारक्रमेण प्रथमां द्वितीयायां द्वितीयां तृतीयायांमिति रित्या संहरन् अन्ततः कलाशक्तिं शिवेन सह सम्मेलनं कृत्वा शिवस्वरूपे शिष्यं प्रतिष्ठापयतिगुरुः । पुनश्च सृष्टिक्रमेण आसां विस्तारं करोति गुरुः । शिष्यः दिव्यत्वमवाप्य धन्यपुण्यो भवति ।<sup>25</sup>

4.2.4 **वेधमयी**— वेधमयी दीक्षा षड्चक्र भेदनात्मिका । सा तु संसारमोचनी सर्वसंवित्रदायिनी च । गुरुकृपाववाप्य शिष्यः षड्चक्रभेदनं कृत्वा शिवस्वरूपमाप्नोति ।<sup>26</sup>

5. **जिनागमे दीक्षा विमर्शः**— जिनवाङ्मये निगदितमस्ति यत् सा दीक्षा श्रेयसदानात्मिका प्रत्यवाय निरसनात्मिका च । उक्तमस्ति -

श्रेयोदानादशिव कृपणाच्च सतां मतेहदीक्षेति ।

सा नियोगात् यथोदितस्यैव साध्वीति ।<sup>27</sup>

सा तु निर्वाणहेतुभूता । शास्त्रानुसारेणा सम्यग्विधिना वा योग्य शिष्याय देयेयं दीक्षा ।

देयाऽस्मै विधिपूर्वं सम्यक्तन्त्रानुसारतो दीक्षा ।

निर्वाणबीजमेषेत्यनिष्ट फलदाऽन्यथाऽत्यन्तम् ।<sup>28</sup>

सम्यग् गुरुकृपावशात् पापविनाशाच्चैषा सम्पद्यते-

तत्संस्कारादेषा दीक्षा सम्पद्यते महापुंसः ।

पापविषापगमात् खलु सम्यग् गुरुधारणायोगात् ।<sup>29</sup>

दीक्षायाः द्वैविध्यमुक्तमत्र । देशसमग्राख्या च । देशविरतिदीक्षा तु गृहस्थानां भवति सर्वविरति तु मुनीनां च ।

दीक्षया गुरुकृपा लाभः। गुरुकृपावशात् शिष्यःतत्सर्वं प्राप्नोति यदस्ति प्राप्यम्।  
इंगिताकारसंपन्नः साधकः गुरुनिर्दिष्टसाधना सूत्रान् सम्यगवलम्ब्य सिद्धो भवति। सर्वपूज्यो  
भवति। उत्तराध्ययन सूत्रे सूत्रयति सूत्रकारः परिकरालंकारालंकृतवचनेन दीक्षादीक्षितस्य  
विनयशील सम्पन्नस्य शिष्यस्य महत्त्वम्—

स पुज्जसत्थे सुविणीय संसए मणोरुई चिट्ठइकम्मसंपया ।

तवोसमायारिसमाहिसंवुडे महज्जुई पंचवयाइं पालिया ॥

स देवगन्धव्व मणुस्स पूइए चइतुं देहं मलपंकपुव्वयं ।

सिद्धे वा हवइ सासए देवे वा अप्परए महिडिढए ॥<sup>30</sup>

6. दीक्षाधिकारी — नैकस्थलेषु दीक्षाधिकारी विषयिणी चर्चा उपलभ्यते। तन्त्रोपनिषद्  
जिनागमादिग्रंथे शिष्यस्वरूपमुल्लिखितमस्ति। बृहदारण्यकोपनिषदि निगदितमस्ति—शान्तो  
दान्त उपरतस्तिक्षु<sup>31</sup> श्रीमद्भगवद्गीतायां शिष्ययोग्यता अधिकारी स्वरूपं च सम्यग्रूपेण  
प्रपञ्चितमस्ति। स अनासक्तः विजितेन्द्रियः विविक्तसेवी ध्यानयोगनिरतः वैराग्यवान्  
अहंकारादिदोषैरसंपृक्तः प्रसन्नात्मा मोहादिरहितश्च भवति<sup>32</sup>

शारदातिलके शिष्यस्य स्वरूपं विस्तरेण वर्णितमस्ति—

शिष्यः कुलीनः शुद्धात्मा पुरुषार्थपरायणः।

अधीतवेदः कुशलो दूरमुक्तमनोभवः ॥<sup>33</sup>

उत्तराध्ययन सूत्रे शिष्यस्वरूपं प्रतिपादितमस्ति। स एव शिष्यः भवितुं क्षमः यः विनीतः  
आत्मानुशासनशीलः स्वधर्मनिरतः ऋजुश्च। कथयति ऋषिः

आणानिद्देसकरे गुरुणमुववायकारए ।

इंगियागारसंपन्ने से विणीए त्ति वुच्चई ॥<sup>34</sup>

स च अक्रोधनः गुरोराज्ञापालकश्च<sup>35</sup> जैन महापुराणे दीक्षायोग्यस्य पुरुषस्य लक्षणं  
लक्षितमस्ति—

विशुद्ध कुलगोत्रस्य सद्वृत्तस्य वपुष्मतः।

दीक्षा योग्यत्वमाप्नातं सुमुखस्य सुमेधसः ॥<sup>36</sup>

योगसारेऽपि कथितमस्ति

शान्तस्तपः क्षमोऽकुत्सो वर्णेष्वेकमस्त्रिषु ।

कल्याणांगो नरो योग्यो लिंगस्य ग्रहणे मतः ॥<sup>37</sup>

इत्थं भारतीयवाङ्मये दीक्षायाः सर्वांगीणं विवेचनमुपलभ्यते। दीक्षा भारतीयसंस्कृतेराधारभूता  
यां समालम्ब्य आर्याः निजलक्ष्यमाप्नुवन्ति।





संदर्भ :-

1. सांख्य सूत्र 1-1
2. संस्कृत धातुकोष, स. युधिष्ठिरमीमांसक, पृ. 63
3. तत्त्व संग्रह -28
4. वाचस्पत्यम्, खण्ड-5, पृष्ठ 3600
- 5-6. तत्रैव पृ. 3602
7. रुद्रयामल तन्त्र भाग-3 पटल-6 (वाचस्पत्यम् पृ. 3602)
8. वाचस्पत्यम् भाग-5 पृष्ठ 3602
9. गौतमीय महातन्त्र 7.2-3
10. वाचस्पत्यम् पृष्ठ 3602
11. विश्वतन्त्र
12. विश्वसार पटल-2
13. रुद्रयामल, पूर्वखण्ड, तृतीय पटल
14. तत्त्वसंग्रह-28
- 15-16. तत्रैव 36, 37
17. मोक्षकारिका - 154
18. तन्त्रसार (वाचस्पत्यम् पृ. 3601)
19. शारदातिलक, चतुर्थपटल -2 पर टीका में उद्धृत
- 20-21. तत्रैव
22. ,, 4.3
23. ,, चतुर्थपटल
24. ,, पंचमपटल 116-121
25. ,, ,, 121-126
26. ,, 127-140
27. अभिधान राजेन्द्र, खण्ड-4, पृ. 2507
- 28-29. तत्रैव
30. उत्तराध्ययन सूत्र 1.47-49
31. बृहदारण्यकोपनिषद् 4.4.23
32. गीता 18.49, 51-55
33. शारदा तिलक.
34. उत्तराध्ययन सूत्र 1.2 चतुर्थ पटल
35. तत्रैव 1.9
36. महापुराण 39.158
37. योगसार 8.51

रीडर : प्राकृत एवं जैनागम विभाग  
जैन विश्वभारती संस्थान,  
लाडनूं (राजस्थान)

## *Glimpses of the Contributions Made by Acharya Mahaprajna*

✍ Prof. B.C. Lodha

*This article was written on the occasion of confessing the honour of 'Yug Pradhan' to his holiness Acharya Mahaprajna, The author has tried to summarise the significant and few important aspects of the multidimensional and vast contributions of Acharya Mahaprajna. It is not possible to withstand a broad outlines of the complete life and contribution of Acharya, the author has dwelt upon very beautifully a few salient academic contributions bearing practical use to the society.*

Acharya Mahaprajna is at present Head (Acharya) of a revolutionary sect of Jain religion, called TEREPANTH. This is essentially a religion of Ahimsa (Non-violence), Satya (Truth), Aparigraha (Non-possession), and Anekant (Non-absolutism) comprising more than 800 monks, nuns and samanias and lakhs of devotees spread all over the length and breadth of India and abroad.

He accepted monkhood at the age of ten and has now completed 68 years of it. During this period he set a shining example of practising the highest ideals of non violence and universal brotherhood. He would preach these values in his daily sermons to large gatherings and common men and women in rural and urban areas of the country during his Pad-Yatra (barefoot march) of more than 100 thousand kilometers. The impact of his Sadhana cannot be statistically, quantified but can well be judged by the ever-increasing number of persons from all walks of life, irrespective of caste, creed, religion or sex, who come to listen to his discourses and resolved to be non-violent and honest. During his tenure of monkhood and later

as Acharya (since 1995), he inspired people to lead a life of non-violence, truth, non-stealing, non-indulgence and non-possession, In close association with his Guru Acharya Sri Tulsi he played a pivotal role in fostering ideals of character building, Anuvrat movement for non-sectarian and secular human values of life, friendship and brotherhood.

He is not only a spiritual leader of exceptionally high calibre and character, but is also an outstanding thinker, philosopher, writer, poet and teacher. His books on Jain Agams, non-violence, peace, morality socio-religious harmony, social and economic reforms, spirituality, science of living, preksha meditation and ecology and innumerable articles published in dailies have inspired both intellectuals and common men alike.

He has influenced not only the general masses but also the intellectuals, politicians, media persons, government officials and mercantile classes to give up partly or fully over-possessiveness, intoxication, smoking, violence, gambling, egoism, anger, ill-will, prejudices, which create conflicts and tensions, and to cultivate tension free habits and positive thinking of simple living and high thinking by adopting Science of Living and Preksha Meditation.

Notwithstanding a general broad outline of the life and contribution made to the society for more than 68 years by the Acharya, it would be worthwhile to dwell upon a few salient academic contributions with some more details which have a practical use to the society.

### **Contribution to the Spiritual Literature**

The Acharya is a versatile scholar of Prakrit, Sanskrit, Philosophy, Religion, Literature, Poetics and Psychology. He has profound knowledge of Jain Agams and Buddhist and Vedic scriptures. He has both mind and eye for oriental and indological research and has been able to understand many mysterious and enigmatic topics and helped resolve many a perennial confusion by providing convincing interpretations and solutions. He has authored more than 100 books but his critical editions of all the 32 Jain Agams of the Shwetambar Tradition in Ardhamagadhi-Prakrit language is most outstanding in Jain canonical literature. These treatises led to the publication of yet another landmark—a series of Agams in Sanskrit with Hindi translation and critical notes. Ten volumes so produced have received great significance as the annotations are based on a very well-comprehended comparative study of Vedic, Buddhist and Jain traditions on one hand and Ayurveda, Lexicography, Grammar, Poetics, Literature and modern Science on the other.

Important literature in English and German on these topics have also received attention in these publications.

Dasavaikalika Sutra and Uttaradhyayan Sutra are other significant accomplishments which have received attention by a wide range of scholars including scientists. He is a prolific writer and contributor. On one hand he wrote several books on Jain Philosophy-Metaphysics, Logic, Epistemology, Ethics, Yoga, Karma-doctrine, History, Literature and culture and on the other, he has gained great popularity for his original, innovative, innumerable writings on self-understanding and spiritual practice. Some of the popular publications in this field are: Chit Aur Man, Anekant Hai Teesra Netra, Main Kuch Hona Chahta Hun, Kisne Kaha Mun Chanchal Hai, Apne Darpan :Apna Bimb, Mun ka Kayakalp.

### **Value-education : Preksha Meditation and Science of Living.**

The Acharya is a great perceptive observer, thinker and evaluator. He observed people and situation in the country and felt that the present-day education is not enough, and material rat race which has engulfed the society cannot bring peace and tranquility for which, after all, one works. He realised that without moral and spiritual education no amount of material advancement could provide peace and happiness in any field of life, wheather it is the family, community or society at large. With his intimate and immense contact with the people he realised that unless human psyche is transformed by both theoretical and practical spiritual education, morality in human community cannot be inculcated. He thus, confined himself in isolation for a long period to engross himself in dedicated Sadhana. During this meditation for awakening all the innate levels of self, he discovered a way—The Preksha Meditation, which if one practises sincerely and seriously, the desired result could be achieved. He continued his efforts further and gave a new dimension to his discovery to achieve and innovative educational system—the Science of Living. These twin disciplines are Achrya's most significant achievement and contributions to the modern world and deserve a little more elaboration.

**1. Preksha Meditation** is a comprehensive system of Indian spiritual heritage wherein one is trained to see oneself, perceive and realise the most subtle aspects of one's own consciousness in order to bring about attitudinal changes and behavioural modification. This if done with sincerity and regularity will help achieve good health, resistance against diseases, integrated development of the personality and happiness.

Students, teachers, executives, professionals, businessmen, scientists,

housewives, persons in active services like police and army, and politicians all have tried it to manage the stress and strains in their life. Persons suffering from acute health problems have attempted in under the supervision of specialist medical professionals to cure themselves from their ailments with success. The most important contribution of the Acharya is that he has made tremendous efforts to co-relate the operational aspect of his meditational therapy with the physiology of human beings, and psychopathology. His efforts to co-relate effects of meditation on Para-sympathetic autonomic nervous system and endocrine system has received attention of the medical scientists and researches resulting in experimental testing of it in the medical field. And such testing have revealed that Preksha Meditation can influence Neuroendocrine centres resulting in beneficial synthesis of hormones which in turn may bring about favorable and useful effects in the over all personality of an individual.

Acharya's most significant contribution is that he discovered the way to awaken all the innate levels of existence through Preksha Meditation which is based on ancient wisdom and formulated with modern scientific concepts.

**2. Science of Living (SOL)** is a new, innovative subject developed by the Acharya himself using his vision and immense knowledge of ancient wisdom and modern science, particularly medical science and psychology. He made a vast study and carried out a lot of research to present before the world a well-synthesised subject founded on sound theoretical knowledge and practical performance for all range of students. Thus, this new subject it morality as its base and human welfare in its vision was launched some years ago with great enthusiasm and efforts. The subject received a wide acceptability as it had a spiritual aura, scientific explanation and practical value for building a healthy society through balanced development of physical, mental and emotional health. The course is aimed at developing an intergrated personality through attitudinal change and behavioural modification of the students. The syllabus covers the techniques of strees management, operational effieciency, carrier development, goal achievement, training in non-violence through meditation, contemplation, auto-suggestion and psychotherapy. Today SOL has taken roots in both school and college education and has gone to all the sections of the people and becoming speedily popular in all walks of the life.

### **Education**

Acharya Mahaprajna has remained a great devotee and intimate collaborator of his great Guru Acharya Sri Tulsi. He has presented

extraordinary examples before people how a student should respect and honour his teacher. There could hardly be an equivalent example in the present-day world of the devotion of a desciple towards his Guru for more than 65 years, and a teacher and taught relationship. This model relationship had many heart-touching moments and brought many laurels to both of them and to the Terapanth Organisation.

Both the teacher and the taught had innumerable innovative ideas. They dreamt also together for the spiritual, academic and social upliftment of the mankind and the society. Acharya Mahaprajna had a great vision, determination and capacity to execute the dreams and desires of his Guru. One such telling example of this is the creation of Jain Vishva Bharati Institute (JVBI) in 1991. Thus, he helped establish the JVBI under the spiritual leadership and inspiration of his Guru Acharya Tulsi and it was a landmark in Jain history, Acharya Mahaprajna with his unique academic and philosophical outlook and zeal for the purpose, guided its development and helped evolve many an innovative P.G. Teaching programme. Take for example the creation of a new subject like Science of Living (SOL). This new subject is his creation. He devotedly worked for it for several years using his immense knowledge in its development.

The Institute started several courses to carve out its special identity in the world and also to introduce spiritual and moral values in the field of education Jainology and Comparative Religion and Philosophy; Science of Living, Preksha Meditation and Yoga; Nonviolence, Anuvrat and Peace Studies; Prakrit and Jain Agam and Social Work are the subject in which P.G. courses as well as research facilities are provided. The Acharya has always given great emphasis on good and quality research on various aspects and on training in innovative subjects like Non-violence and Science of Living. His inspiration has led to active research on several important aspects of Jain Agams, Non-violence, Peace, Anekant and to training for Short-term certificate courses.

Several students, Samanis and Sadhvis have presented through-provoking theses for their Ph.D. and D.Litt. degrees with highly appreciative reports from the experts in the respective fields.

Another great achievement of the Institute is the establishment of the Acharya Kalu Kanya Mahavidyalaya in 1998 under the inspirations of Acharya Mahaprajna. This indeed was historic decision of the Acharya who is the Anushashta of the Institute. This college is imparting Education to

mumukshu sisters & girls in philosophy and ancient Indian languages. The J.V.B. Institute has organised four International and several National Conferences on themes like Non-violence, Peace, Preksha Meditation, Anuvrat, Value Education and various aspects of Jain philosophy. It organised in Novemeber, only last year, an International Conference on World Peace and Anuvrat at Sardarshahar, Rajasthan, in collaboration with the Worldview Rights (Norway) and the Acharya Tulsi Peace Foundation.

In July, 1998, a five-member delegation under the leadership of Prof. B.C. Lodha, Vice-Chancellor of the Institute was invited to participate in an International Conference on Ecology and Jainism organised by the Harvard University, U.S.A., the total number of invited participants being only 15.

The Institute has a good teaching and research faculty of 30 scholars of whom 12 are Samanis. It has brought out 31 important publications and many academic activities are in progress. The Institute also publishes a quarterly research journal-Tulsi Prajna and has produced 105 issues of it so far. Many important dignitaries, like the Buddhist Nobel Peace Prize Laureate, the Dalai Lama and Dr. Shankar Dayal Sharma, the then Vice President of India have visited the Institute and appreciated its nature of activities and value ethos.

It would be appropriable to quote here the observation made by Dr. Glenn D. Paige, Professor Emeritus, Peace Studies Programme, University of Hawai about the Jain Vishva Bharati Institute in an article published in the International Journal of Nonviolence brought out by the American University, Washington D.C. He remarks, "the dedication of the new Jain University for non-violence in Ladnun on 26 November, 1991 was surely an historic event of non-violent global transformation... The Jain Vishva Bharati Institute justly claimed its new status as deemed university and set forth on a new journey of non-violence discovery, education and service... It would be quite appropriate for the university to become a global leader in developing the theory and practice of non-violence education.

### **Nonviolence**

Nonviolence is the heart of jain philosophy and Acharya has made a great contribution in His field. his life is dedicated to non-violence and his acts, his speeches, his writings, all have fragrance of his innovative ideas and concepts for inculcating nonviolence in the minds and behaviours of people. A few of his thoughts and concepts are very briefly presented here just to introduce his understanding of the problems of violence and his therapy for minimizing it. He has tried to answer the question as to how

violence is born in man. He says that ours as well as society's entire life style is based on practical nonviolence, on the slightest pretext violence can flare up anywhere in family, between communities, castes and sects.

Thus, for a proper understanding of the whole matter, we have to first understand the concept of spiritual nonviolence. Merely living together on the basis of practical nonviolence is no guarantee of true and lasting nonviolence. The violence prevalent in society cannot be put an end to without developing spiritual nonviolence (unit and equality of all souls-souls of all sentient) and basing our life style on it.

Acharya Mahaprajna attributes five main sources which make a man violent:

- 1. Stress :** Violence is not possible in the absence of stress. A relaxed person cannot commit violence. There are two types of stress: that which is born of a sense of arrogance and that born of a sense of defeat.
- 2. Chemical imbalance :** When there is imbalance of glandular secretions in body people become violent.
- 3. Imbalance in nervous system :** It causes motiveless violence for no reason other than deriving joy.
- 4. Negative attitudes :** Man has two kinds of attitudes positive and negative. Ordinary man has a preponderance of the latter. Hatred, jealousy, fear, lust, racism, casteism, etc. are all symptoms of a negative attitude and they contribute to violence.
- 5. Overexertion :** Mental, vocal and physical exertion is very common in human beings to-day and this leads to violence.

The Acharya has suggested different kinds of meditations—observance of physical and mental relaxation for the first four problems which cause violence and for the fifth problem, he suggests that one must observe silence. He feels that observing silence just for an hour in the day will be a great boost to balanced living. He says that physical discipline, vocal discipline and mental discipline are intrinsic to meditation. By practising all the three of these, one can severely restrain violence. To bring his concepts to practice he developed a course of "training in nonviolence", gave its performances during several workshops, camps and national and International Conferences.

As regards world peace, the Acharya feels that world peace cannot be achieved on religious or political basis. He is of the view and acclaimed internationally, that a World Forum, comprising individuals and NGOs



committed to non-violence and world peace is the need committed to non-violence and world peace is the need of the day to supplyment the efforts of the U.N.

### Ecology

Due to his scientific outlook the Acharya is possibly the first man from the religious world, at least from the Jain philosophy, who started talking about protection of ecology from a Jain perspective. He says preservation of ecology has received great attention in Jain canonical literature and is infact the other name of Jainism. He further says that through the observance of all the five important Anuvratas (vows): Ahimsa (nonviolence), Satya (truth) Aparigarh (nonpossession), Asteya (non-stealing) and Brahmcharya (abstinence from sense pleasures), a Jain layman helps the preservation of ecology. Of these five, it is Aparigraha (vow for non - possession), the fight against the instinct for unlimited possession is most important. Possessiveness is the root cause of all kinds of violence. It is for the attraction of material things and the instinct to possess them heats man, disturbs nature, peace and harmony. He strongly advocates that if the problem of possessiveness is solved, the major problem of violence will get automatically. "Violence is an effect, possessiveness is its cause". While possessiveness breeds violence, violence plagues manking and its environment.

Vice Chancellor,  
Jain Vishwa Bharti Institute,  
Ladnun-341 306 (Raj.)

□□□

## Cosmology

### *Concept of the Eight Point Centre in Jain Cosmology : a Critique*

✍ Dr. M.R. Gelra

In India Mathematics has been a subject of the study since 1000 B.C. During the Vedic period, altars of specified shape and area were constructed for the sacrificial fire. They employed such methods that could provide desired geometrical figures like triangles, rectangles, semi-circles, trapezia, rectangles with a semi-circle on one side. During the initial period the magnitudes of these figures were represented by segments<sup>1</sup>.

The genesis of the Jain Mathematics in India may be traced as back as 300 B.C. to 500 B.C. It is a truism that during this period Jainism expanded in India. Jain mathematicians were not interested in the shape of altars, they turned their attention to and initiated studies focussing primarily on Cosmology and Cosmography<sup>2</sup>. Secondly the studies were devoted to the behaviour of massless pudgal (like gluon particles) with a view to enriching the concepts on epistemology and philosophy<sup>3</sup>. The Jain mathematicians employed simple and popular house-hold things while constructing the figures of various systems discussed in Jain ancient scriptures. Jaina major contribution in Cosmology hinged on building a model of universe<sup>4</sup>. Also they formulated a new scientific paradigm of the eight-point centre of the universe<sup>5</sup>. The illustrations pertaining to the shape of the universe and an eight-point centre are as follows :

## (I) UNIVERSE (COSMOS)

- (a) Three bowls were used. One bowl placed convex-wise (i.e. upside down) at the bottom, the second bowl placed concave-wise (i.e. with the face upward) above it and the third one placed convex-wise (like the bowl at the bottom) upon the second one. The resultant configuration arising from the conjunction of three conical bowls with the shape of chopped off pyramids on four sides becomes the model comparable to the figure of cosmos. (fig.1) This figure if seen in its vertical cross-section it narrows from below to the centre and then widens again in nearly the same degree as above. This model shows that both the summit and base are built up in a convex shape.
- (b) Similarly, the efforts were made to construct a model of universe with the aid of other house-hold things<sup>6</sup>.
- (c) It is also mentioned that the cosmos is shaped like a human standing with the legs apart, palms resting on his waist and is therefore known 'Cosmic person'<sup>7</sup>.
- (d) Kirfel, the German scholar interpreted the figure of universe as "three pyramids one upon the other, each having a square base and rising in steps on all sides, the centre one of which standing on its top surface<sup>8</sup>.

## (II) EIGHT-POINT CENTRE (EPC)

- (a) The EPC may be compared to the figure that emerges when the four udders of a cow are in one plane and four udders of another cow are in a lower plane, interlinking in such a way that each point gets enjoined to other two points<sup>9</sup>. This is probably three dimensional figure that of a cube (fig. 4,5). EPC exists at the half way of vertical dimension of the universe.
- (b) It is emphasized that from the corner points of eight-point centre (EPC) figures, four main directions (East, West, North and South), four intermediate directions and two zenith (upper) and nadir (lower) directions originate<sup>10</sup>. (fig. 6,7)
- (c) E. Schubring the German Indologist highly appreciated the Jain mathematicians remarkable mode of developing a eight point centre which is geometrically a figure of three dimensional cube<sup>11</sup>.

This cubical units is quite significant since all directions originate from the central cubical unit by elongation of point-paes (region) gradually. The origination of directions is independently of the sun.

We may observe that Jains have illustrated the shape of the universe with the help of three bowls including the shape of the eight-point-centre which is compared to the udders of the cow. It reveals a notable degree of correct observation in the field of geometry and wonderful insights into the natural world. Jain mathematicians contributed tremendously to the growth of geometry by advancing in the early stage of the Vedic period. Cosmology is a modern and advanced subject and during this century various models of cosmology have been formulated by scientists (static, steady-state, evolutionary) under various assumptions. Scientists could find the mass density and the total-mass content, the age, the phase of its present dynamical behaviour and its chemical evolution, with time, for formulating a comprehensive theory on cosmology. It is, however, important to note that *the modern cosmologists have not proposed any centres or centres of universe*<sup>12</sup>.

The subject of modern cosmology has been a meeting place of contradictory (or at least alternative) theories and observations. The present observational status does not let any cosmological model to be either wholly accepted or totally rejected. Hence none of the models can be singled out as an ideal one. Even the most powerful optical and radio telescopes available at present are unable to fathom the whole depth of universe and whatever observations obtained at large distances, their correct interpretations have quite often eluded the scientists<sup>13</sup>.

It has thrilled the traditional cosmologists particularly Jain cosmologists on account of identical and closer interpretations which appear to be quite rational and scientific. We consider cosmology as a truly modern subject but at the same time it has ancient roots. It would therefore, be a worthwhile exercise to investigate the issues in Jain cosmology which are either in tune with or may provide suggestive leads to the modern cosmology.

The object of this paper is not to discuss the physical or the metaphysical part of the cosmos but to observe the growth of geometry with a special reference to the significance of the eight-point-centre of universe. This issue becomes all the more important because modern cosmologists have virtually ignored the centre or the centres of the universe.

Some of the basic facts about the Universe and its centre may be discussed in the light of the following essential parameters. viz.,

- |            |               |
|------------|---------------|
| (i) Mass   | (ii) Space    |
| (iii) Time | (iv) Geometry |

## MASS

According to the main postulates regarding the realities of Jain cosmology, Pudgal i.e. matter exists in two forms;

- (i) Matter possessing mass (ii) Massless matter

The unique concept of massless matter has been elaborately analysed in Jain literature. The massless matter is so subtle that it is unobservable even by the meticulous scientific instruments so far as known to us. The massless matter is fully filled or rather packed in the universe. There is an interchangeability relationship between mass form and massless form. Hence the mass content at a particular point at any moment does not remain the same in the universe. However, the sum total of the different forms of Pudgal-matter remain unaltered within the confines of the universe. The interchange taking place within two forms of matter as mentioned above may be represented as under :

### MASSLESS MATTER $\longleftrightarrow$ MASS MATTER

The shift of equilibrium on either side will change the mass density. Therefore, Jaina has not recognised the mass as a fundamental property of the reality of universe. There is great support of modern science to the Jain cosmologist regarding the existence of the massless matter. The 'quark-soup' that constituted the universe at the early times on the cosmic clock is an ultimate testing ground for the theories of particle physics.

The discovery of massless particle, viz. gluons with the different form of quarks has given sanction to the Jaina observations on massless matter. Therefore, the future researches on the particle physics, particularly the gluons and quarks would help in understanding the true nature of massless matter. It is highly commendable that Jaina have observed the massless matter in the nature two thousand year ago. The observations on massless matter may take suggestive lead to the modern cosmology. Modern cosmologists have observed the peculiar feature in galaxies and confirmed the idea, that new galaxies are forming i.e. new matter is in the process of creation. Such observations have lended support to the continuous creation hypothesis. But this goes against the law of conservation of mass and conservation of energy<sup>15</sup>. If this disputable issue is examined in the light of Jain cosmology, it may be suggested that when the equilibrium shift takes place from massless form to mass form of matter, it is visualised as if the new matter has been created. However, the pudgal i.e. both the forms of matter their total plus

remains the same. We have to keep our discussion restricted to the theoretical assumptions because of the non-availability of its mathematical calculation. The old writings of Jain literature are in Prakrit language and in order to maintain the rules of grammar the calculation part seems to have been omitted.

## SPACE

According to Jaina, total space exists in two parts<sup>16</sup>. The part in which animate and inanimate substances exist is known as cosmic space. The rest of space that surrounds the cosmic space in all directions is known as acosmic or supercosmic space, Acosmic space does not possess any kind of substance. Cosmic space is finite in relation to acosmic space which is infinite.

Cosmology is the science which attempts to give answer regarding the understanding of the phenomenon behind the cosmos. No one has earlier conceived or observed the existence of void space behind the cosmos. *The concept of acosmic space and its infinite dimension is original in Jaina.* Requirements for a body to be in static equilibrium is the vector sum of all the external forces and external torques acting on the body measured about any possible point must be zero.

Decision regarding the static equilibrium of the whole universe, is difficult problem. The role of acosmic space seems to be very important. Acosmic space surrounds the whole universe from all directions. The resultant effect will be that there will be no force, no torque. No pressure and no entropy change etc. on the external boundary of the universe. Because acosmic space is completely a void space, hence the stability of the geometrical figure of universe will depend entirely on its configuration and perhaps to its centre, which will be dealt with in the forthcoming section on geometry.

All evolving cosmological models are based on two basic postulates<sup>17</sup>.

(i) Isotropy

(ii) Homogeneity

Isotropy means "In whichever directions we may look at the law of red shifts remains the same. The red shift being a measure of the recessional speed of a galaxy. This leads to the conclusion that at least presently the universe is expanding.

Homogeneity i.e. the distant part of the universe would not have been different from our local environment.

According to Jaina, universal space is not expanding but the formulations

of all the four directions gives misconception of expanding Universe. It is interesting to know how Jain have conceived the origin of directions. For this, EPC and its shape play an important role. EPC has a shape of a cube having eight corner point. Each main direction (North, South, East and West) originates with minimum of two central adjacent points (out of eight points) which gradually increases by plus one point-paesa on each side.

In fact the regular increase of point-paesa elongates the particular main direction in the space. It is the peculiarity of the direction that its virtuality takes the *drum-like* shape<sup>18</sup>, perhaps due to the curvature caused by the direction itself in the space. As the space is inert it does not have any shape. It seems that the formulations of the direction in the *drum* shape, looks as if there is a curvature in the space. According to Jain, space and direction are two different realities of universe. It is significant to note that these directions extend upto the end of universe. It is, therefore, logical to presume that the boundary of the universe should be a curved one. It is in conformity with the modern ideas.

Jain has pointed out the existence of (4) four main directions, (4) four intermediate directions and one upward & one downward direction. Descriptions for the intermediate direction and Zenith and Nadir (upward & downward) directions are different from the main directions. The intermediate directions originate from one point-paesa of the EPC and elongates diagonally upto end of the universe. The specific observation is that there is not gradual increase of point-paesa. Similarly the Zenith and Nadir directions originate with four point-paesa and elongates to the end of universe. The intermediate, Zenith and nadir directions, do not gradually increase in point-paesa, It is to be noted that the formulation of main directions is different from the nature of intermediate directions, upward and downward directions. It fulfils the Jain conditions that the motion of matter takes place only in the realm of main direction. Hence the isotropy i.e. the matter is moving away and away, is observed causing the expansion of the universe. Homogeneity is observed by the uniformity of space .

## TIME

According to Jain cosmology, universe is beginning less and endless with respect to time. We have noted that universe is finite in relation to space but its time dimension is infinite to past and infinite to future<sup>19</sup>.

It has been briefed earlier that there is a change in mass density with

time due to the shift of equilibrium between mass and massless forms of matter. This shift of equilibrium with time will certainly shift the geometric centre of universe.

Very recently STEPHEN HAWKING (A brief history of time, 1988) has proposed a finite closed universe with no boundaries without beginning of time. It is a new concept based on the combination of quantum mechanics with general relativity.

The Jain postulates six fundamental substances which constitute this universe. They are namely :

- (i) Medium of motion    (ii) Medium of rest    (iii) Space  
(iv) Matter                    (v) Soul                    (vi) Time

It has been described that the shape of the medium of motion and the medium of rest is the shape of universe. Universe is completely self-contained and self described. Hence Jain universe may be regarded as of closed shape with no specific boundary of its own. If it is so, then the concept of STEPHEN support the Jain cosmology for universe being without beginning of time.

## GEOMETRY

Modern cosmology strongly suggests that the universe is expanding with the distant galaxies moving away from us at rate given by Hubble's law. The expansion described by Hubble's Law and the presence of ubiquitous background microwave radiation suggest that the universe began in a "bigbang" about 15 billion years ago. It has been assumed that when the universe was only 300,000 years old which was about  $15 \times 10^9$  years ago, it should have condensed to the *oval* shape. The Jain view on the shape of the cosmos and its eight point centre has been projected earlier. The geometrical figures of the universe if seen in vertical plane, it may be compared with an arithmetical number (8) of nearly equal halves. The figure of number (8) appears like a combination of two ovals linked together. The two lobes of universe, therefore, look like an *oval* shape.

The object of this paper is to study the peculiar postulate of Jain cosmology i.e. 'Universe with eight point centre'.

Any rigid solid object can have been only one point centre. If the universe were a rigid solid body, one can visualise only one centre. According to modern cosmology, in an infinite universe every point can be regarded as a centre because every point has an infinite number of stars on each side of us. Hence it is impossible to think of centre of universe with unlimited dimension.



As the universe has been given a definite geometrical shape by Jainas, one can locate a centre of that shape.

We have to take the following important postulates of Jain cosmology into consideration.

- (i) The force or torque on the external boundary of the universe is zero, because of the presence of void a cosmic space.
- (ii) There is a change in the mass-density with time in the two lobes of the universe due to shift inequilibrium between two forms of matter. i.e. mass to massless and vice-versa. Hence the centre of universe cannot be static but changes its position.
- (iii) The main direction (north, south, east & west) are drum shape and originate from a pair of EPC.

*These postulates may lead us to locate the centre of Universe.*

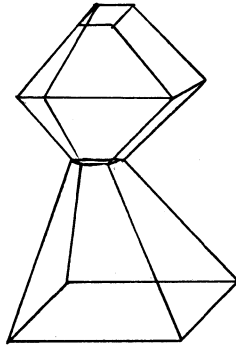
- (i) Because a cosmic space is completely a void space, the stability of the geometrical figures of universe will depend entirely on its configuration and perhaps to its centre.
- (ii) Because of the change in mass density with time in two lobes of the universe, the following possibilities arise.
  - (a) There is a possibility of the continuous variation of centre with time in some small region near the geometrical centre of universe, which lies somewhere at the half way of the vertical dimension of universe.
  - (b) The variation of the centre of universe can be presumed along an oblate sphere (like pressed water-drop)
  - (c) The oblate sphere intersect the edges of eight *Ruyaga-Padesa* which lie near the geometrical centre of universe. These *Ruyaga padesa* are comparable to the udders of cow.
  - (d) As per Jaina, these eight points get stabilized and when properly joined give a shape either of cube or cuboid or some similar shape.
- (iii) The condition for the origination of direction is fulfilled by a shape of cube, therefore it is logical to accept EPC in the form of a cube. The elongation of main direction in the drum like shape i.e. curved shape in space has the probability that some voids are left and as such this lacks continuity of direction. However the idea of moving

centre has far reaching consequences. The directions are an automatic outcome with no gaps.

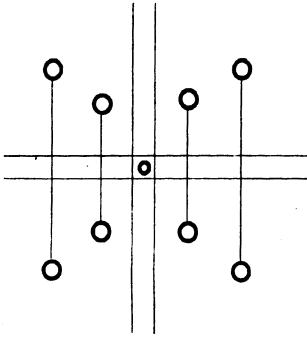
The sheer scale of Jaina vision of time, space, mass and geometry, a vision that includes the notion of infinity is a tribute to the sophistication and insight of these great mathematicians. In this vision the idea of time and space as co-existent something later identified by Einstein.

### References

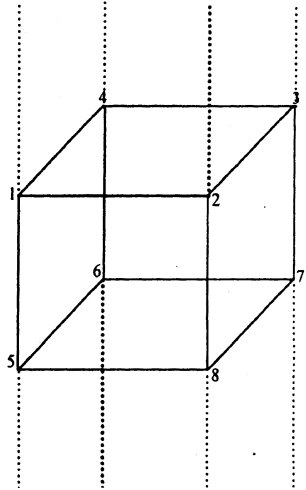
- 1,2 **Rajagopal. P** (1998) 'Indian Mathematics and its evolution" Arhat Vacana Vol. 10 No. 3 pp. 9-26 kundakunda Jnanapitha, Indore
  - 3,14 **Gelra M.R.** (1976) 'Massless pudgala' Tulsi Pragya, Jain Vishva Bharati, Ladnun,
  4. **Professor Muni Mahendra** (1969) 'Vishva Prahelike' Jain Vishva Bharati, Ladnun,
  - 5,9,10,18 (i) Achraya Shri Tulsi and Muni Nath Lal (Presently Achraya Maha Pragya) (1976). Thanga Sutra 8/48-51, 8/95,96; Jain Vishva Bharati, Ladnun  
(ii) Muni Madhukar (1999-94) Vyakhya Pragapti, 10/1/3-9 p. 582 Agam Prakashan Samity Beawer.
  6. **Gelra M.R.** (1987) 'Unique figures discussed in Jain Agams' International symposium of History of mathematics, Gunma University, JAPAN
  - 7,8,11 Schubring. W (1978) 'The doctrine of the Jainas' Motilal Benarasi Dass, Delhi
  - 12,13,15,17 **Basu, Baidya Nath** (1997) 'An introduction to Astrophysics' Prentice-Hall of India Pvt. Ltd. New Delhi
  - 16,19 **Achraya Tulsi** (1985) 'Illuminator of Jain Tenents' P.P. 3-4 Jain Vishva Bharati, Ladnun.
- [Paper read at the 4th International symposium on the History of mathematics and mathematical education using chinese characters (ISHME)]



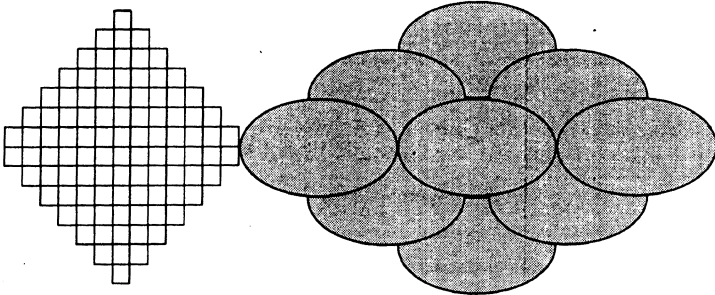
(Fig.1) Four Sided model of Universe



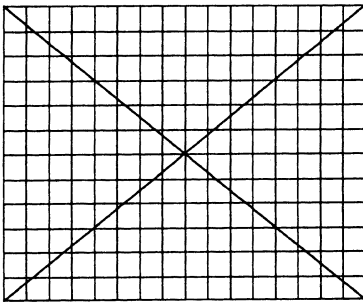
(Fig. 4) Eight-Point-Centre (EPC)



(Fig. 5) Cubical Shape



(Fig. 6) Elongation of Main directions



(Fig. 7) Intermediate Directions

5 CH - 20 Jawahar Nagar  
Jaipur

## Social Service

### *Hindu Ethos And Social Service*

✍ Prof. Musafir Singh

The ideal of social service, like many other ethical norms, proceeds from religion. But as a matter of concrete practice, it is not manifest at the social level in all world religions equally. It is a *sine qua non* of christianity, in a sense its *elan vita*, but a mere commonplace or back-bencher in the dominant ethos of Hinduism. Whatever their motivation, Christian societies of the West contribute so generously in terms of men, material and money towards the alleviation of human suffering all over the globe during normal times as well as during crises. Christian missions have spread their network of services even in the most inaccessible parts of the world purveying succour and security to the oppressed and afflicted and also opportunities for their human development. A vast number of missionaries have dedicated their whole life to the cause of social welfare and social service and several of them have even sacrificed it gladly in the process. Christians have plethora of organisations committed to social welfare/development in third-world countries. They provide financial and technical underpinnings to a large number of voluntary groups in the developing countries. It is because of this liberal funding that there has been a quantum jump in the number of non-governmental organisations in our own country in recent years. The magnitude and standard of service rendered to the victims of misfortunes by christian agencies have no parallels and have thus legitimately won unqualified praise and admiration

from all quarters. One can safely aver that whatever institutional-organisational framework of social welfare extantly exists in the voluntary sector in our country is but an inspired emulation of christian missions. As the tradition of social service is endogenous and widespread in the West, it is not episodic that institutions of formal education in social service too first emerged there transforming it into a new profession of social work. Industrial revolution alone, as some tend to believe, would not have brought about this development, had there been no christian love and compassion in operation in the Western World. Mother Teresa exemplified the social service ideal of christianity in its noblest form harbouring infinite love and concern for the so called "Wretched of the Earth". Her ascent to the throne of universal veneration and immortality has sent shock waves in the citadels of other religions whose leaders so far had preferred to indulge in ritualistic self-aggrandisement. The christian spirit of selfless service is exercising a subtle but profound influence on sensitive minds in other religions so much so that a religion eschewing social service stands the risk of being accused as anti-human and projection of morbid psyche. Critics may well controvert this standpoint by asserting that religion is distinct from society and cannot be reduced to or equated with any socialising activity, however grandiose. This criticism however, cannot have unquestioned validity as it militates against the empirical truths of history and runs counter to the essence of religion itself. If religion makes dissolution of the ego a pre-condition of spiritual advancement, even the most sublime goal exclusively oriented to the individual good would fail to reflect the true spirit of religion. It is precisely for this reason that founders of all religions after attaining enlightenment returned to the mundane sphere and mortgaged every moment of their life to the mitigation of human sorrow and suffering. The life of these divine personages itself is an eloquent endorsement of the stance that religion cannot be estranged from social concerns. Thus this one single facet of christianity i.e. love and care for the forsaken and forlorn delivers it from all calculated and tendentious insinuations. In short, christianity sans social service is not christianity at all.

2. No such determinate characterisation, however, is possible of Hinduism. Hinduism is not the embodiment of revelations of any one prophet at any one point of time. Nor is it confined to one or a few books. Hinduism is a perennial stream of inspirational and intutional insighths running across ages, ever changing and expanding with additions of new contributions.

Historical and spatial differentiations have produced a congeries of incongruous, even contradictory thought-ways and workways in the Hindu ethos. Any thesis or antithesis can seek its vindication by adducing examples in support of refutation from some source. So it is very difficult to uphold any doctrinal view-point about Hindu ethos dogmatically. The amorphous and eclectic character of Hinduism apart, pronouncement of any categorical statement becomes even more complicated by the vast divergence between the precepts of scriptural Hinduism and practices of anthropological Hinduism.

This article purports to highlight the point that the dominant ethos of Hinduism has not been conducive to social service and that whatever scenario of social service one comes across in Hindu society is not an innate but a vicarious expression.

3. It is true that shrutis, the fountainhead of Hinduism, proclaim the divinity of man, the well-being of the whole of humanity, even of all sentient creation and eulogise altruism, but their universal message of the omnipresence of goodwill and welfare among men runs dry in the course of Indian history. By the time of Smritis, the cosmic paradigm of the Shrutis, gets broken up into countless social fragments, both horizontal and vertical. The grandeur and sublimity of their utterances become cribbed and cabined in sordid divisions and invidious distinctions. The vivifying and dynamic spiritual current becomes ossified into enslaving ritualistic norms and duties. The free flow of social transactions is directed into narrow channels of segmental loyalties and identities. Spirituality becomes conspicuous by its absence and religion is reduced to a mere mechanical repetition of certain obscurantist observances oriented to selfish or sectoral considerations. In the heirarchy of values—*Nishreyas*, *shreyas*, *Preyas* and *heyas* or *dharama*, *artha*, *karma* and *moksha*, social service and social welfare get marginalised and are assigned but a peripheral significance. Social service ceases to be a value of discourse in the universe of ethical or spiritual values. Its normative articulation in the scriptures notwithstanding, the concept of social service appears to have no plausible manifestation in society; there springs a disjunction between religion and society. While religion enjoyed an unbounded freedom to proliferate into endless sects and systems of thought, society remained fissured into motionless and impervious compartments, proscribing all experimentation and innovation. When social rigidity and immobility became asphyxiating, the *Sanyas* system (asceticism) emerged

as a spontaneous mechanism to counteract this deadly social inertia. A number of saints and sages in a long and unbroken row, took birth almost in every century to resuscitate the ancient spiritual messages in their universal, dynamic and vibrant form in an otherwise entropic society. It is true that the Hindus have been doing philanthropic work down the ages giving alms to the needy, building *dharmshalas* for the wayfarers, water tanks for the thirsty and providing hospitality to the guest stranger but these activities lacked inner spiritual motivation and were performed mechanically with certain ulterior ends in view. These saints by their precepts and examples tried to spiritualise these welfarist activities by endowing them with an aura of human love, dignity, service and sacrifice. However, the Hindu society did not show up any enduring change in its social orientations and would soon return to its homeostatic position of public indifference and private indulgence. Social welfare in the form of organised care dispensed personally and physically to those beyond the kinship groups—the crippled, the maimed, the destitute, the diseased, the decrepit and the demented— never became internalised and institutionalised as a culture in Hindu society.

4. Hindus since upanishadic times have by and large been autological and accorded ontological primacy to the individual. They have treated the collectivity as an enlarged shadow of the individual and not an independent existential entity in itself. For them the locus and focus of any authentic and effective change could only be the individual. Social change is merely a projection or reflection of the individual change. External changes in themselves have no stability and substantiality; only internal changes are genuine and lasting. Therefore, solutions to the problems of life are to be sought within and not without. Burdens and predicaments of existence could be met not so much by effecting changes in social institutions and material conditions as in dispositions and perspectives. Hindus, therefore, have taken recourse to subjective devices rather than objective to deal with the human situation. That is, the essence of social service lay not so much in organising a series of institutional or non-institutional activities as in fortifying the inner resources of the person. It is because of this individual subjective approach that Hindus were apathetic or averse to creating social welfare institutions and organisations. It is an historical fact that Hindus have through-out lacked a congregational or organisational mindset. Their primary institutions of joint family, caste and community had built-in security dispensation mechanisms and they did not need secondary organisations

for purposes of welfare. Is it not surprising that there were no voluntary organisations in the countryside to act as instruments when India launched its gargantuan programme of community development immediately after Independence? Government had to create people's organisations at the grass roots level to support and sustain the programme. Whatever organisational infrastructure in the field of social welfare existed in the urban centres, that too was not an indigenous growth but a tardy reaction to christian pre-eminence in that field. Even the major socio-religious movements representing the Indian renaissance of the 19th century were no native products but imported commodities from the west. That determined collective action can change the course of destiny became a bonafide belief and a powerful motivational force in the Hindu mind only when it came into contact with the West and saw the miracles it has accomplished with aid of science and technology.

5. The phenomenal Schism between spiritual exhortations and social conventions in regard to human dignity has been a unique and spectacular feature of Hinduism. While the scriptures exalted man to the position of a divine being, society down scaled him to the level of an 'untouchable' using all sorts of pejorative appellations for him such as '*mleccha*' and '*chandal*'. Such men were kept deprived of the access to all desired and desirable things of life — knowledge, power, property and status — and subjected to inhuman, oppression, exploitations, indignities and discriminations. In such a society which so brazenly violated all ethico-spiritual norms — equality, liberty, justice and humanity — to expect even a semblance of social service was hobnobbing with a chimera. This horrendous practice of turning man into a pariah rendered all empyrean exclamations of the scriptures hollow and hypocritical. The caste system was another creation of the Hindu 'genius' which conveniently contravened all universal declarations of the scriptures. The cosmic man of the *Upanishads* was reduced to a puny creature of a caste-bound society, divested of all spiritual potentials and attributes. The urge and yearning for the good and well-being of all was lost in the quagmire of caste animosity and caste conflicts. The exclusive orientations of caste groups engendered an atmosphere of hostile rather than harmonious interactions in society keeping it perpetually in a state of stress and strain. Any infringement of caste rules, however trivial, was frowned upon and met with stringent retribution. Ostracisation or ex-communication on flimsiest grounds has always been the anathema of Hindu society. It was these cruel



and dehumanising practices that led to landslide erosion over the centuries in Hindu society making it vulnerable to foreign invasion and subjugation. These social and cultural atrocities perpetrated on the weaker sections of society. In covert manner have been far more degrading and damaging than the overt physical cruelties witnessed in other societies. While vegetables, beasts and stones were venerated and worshipped with folded hands, man's dignity and humanity were trampled upon with gay abandon and disdainful regard for human rights. Only a Hindu society could present the abhorrent spectacle of dogs and men fighting over the morsels of food left over during celebrations or scrounging the same by rummaging through garbage heaps. Whenever a Hindu gifts, he does so with an aura of hubris and not with humility. The act of giving away pampers the self of the giver but pauperises that of the recipient. It is an occasion of condescending for one rather than co-ascending for both. This act of charity demeaned both — the benefactor as well as the beneficiary by inflating the self — image of the one and deflating the self-respect of the other. Vivekanand redeemed the situation by calling charity as the service of the Lord poor — *daridranarayan*. This new compound word sanctified the act of charity through a status reversal of the two actors. The giver has now to think of himself as the humble servant and the recipient as the Lord Supreme in disguise. Charity was to be construed as an act of worship. An offering to the Lord, a symbolic expression of one's gratitude for his benediction. Thus by this simple change of nomenclature, the recipient was transmogrified from a despised pauper into a divinised person. The giver was also purged of his baser elements and purified into a man of God. Charity itself became a spiritually elevating act at the individual level and equilibrating act at the social level. This magic formula radically transformed the whole philosophic panorama of social service in India and made it an integral and indispensable component of her spiritual *weltanschauung*. This spiritualisation of social service generated a new awakening about its significance in individual as well as social life — it unhinged life from its self-centredness and made it more expansive, meaningful and worthwhile.

6. Why have Hindus been so indifferent or lukewarm towards social service? The answer would require a deeper probe into the philosophical fundamentals that determined Hindu perspective on life. Hindu world view has predominantly been cosmocentric i.e. the belief that man is a part of the cosmos and the purpose of human existence has to coincide with that of the cosmos. Behind the facade of multiplicity there is the all — pervading unity

supported by a transcendental polarity. Man is a free being but his freedom has to function in tandem with the cosmic necessity. Man has to abide by the cosmic laws and he cannot play truant with them. The supreme goal of life is to achieve osmosis with the cosmos i.e. to identify with it and get transmuted into a cosmic being with a cosmic consciousness and cosmic personality. This subjective expansion is the fulfillment of life's objective and its imperatives involve the annihilation of the phenomenal ego and the emergence of the noumenal self. The other cardinal principle of Hinduism is divinity of man i.e. the belief that man is potentially divine and destined to attain Godhead either through deliberate, conscious efforts or through the grand march of evolution. God is not only the creator but also the creation itself. The whole cosmos is God in his manifestation. Every thing is divine — inanimate, animate, sentient and insentient. Man has, therefore, an a priori existential affinity with everything. When we worship a stone we worship the Brahman, the absolute. Idol worship, therefore, is the expression of the highest state of spiritual realisation and not the exhibition of a crude superstition or a surrender to one's own estranged or alienated powers. The worship of natural objects is not primitive animism born out of colossal ignorance but a religion born out of supreme enlightenment. Any damage or destruction of any object of nature is the desecration of the divinity and any reverence for it its consecration. Nature nurtures all creatures and without its support system all life would collapse and extinguish. Any talk of conquering mother nature is sacrilegious and sinful. Any disturbance of its delicate balance through wanton destruction is virtually a violation of its chastity and when carried beyond its tolerance quotient, it is bound to invite its wrathful vengeance. Any act of depleting nature must be followed by another of replenishing it. Hinduism is, therefore, thoroughly opposed to the reckless and ruthless exploitation of nature for the advancement of human self glorification. Human development must not be antithetical to nature but in consonance with its evolutionary tendencies. This ecological perspective, no doubt wonderful and admirable, has had its dysfunctional impact on social orientation in the Hindu ethos.

7. The spiritual logic of Hinduism is very simple and straight. When all things are essentially divine, an act of benevolence to any living being is a virtuous act and would earn religious merit. Whether you serve a leper, a person in distress, a wailing creature or a wilting plant, you are serving the divine and therefore, all these acts are equally meritorious. Hindu

compassion, thus theoretically encompasses the whole of cosmos and not only the humankind. As it has a cosmic spread, it gets diluted and diffused. A Hindu has no special consideration for social service or human caring. He feeds insects, birds and animals symbolically or systematically at the cost of a starving fellow-being without any twinge of conscience. He believes that man being the highest manifestation of the divine has the innate capacity to take care of himself but not the lower creation. God has endowed man with the power of discrimination. He can distinguish between the right and the wrong. He can weigh his deeds and the consequences flowing from them. Therefore, if he suffers, he himself is largely responsible for this. He does not deserve as much sympathy and commiseration as the dumb creatures do. An animal is bound by its nature, it cannot and does not do anything against it but man can and does. Animals, therefore, attract a greater focus of concern in the Hindu world view than men.

8. For a Hindu, the supreme goal of life is to achieve liberation from the cycles of births and deaths i.e. to transcend historicity and temporality. The world is a prison house, a place of condemnation, full of illusions and painful afflictions. Sorrow and suffering constitute its very matrix, hence it is impossible to eradicate misery. To strive to enhance human happiness and well-being is to chase a mirage, an exercise in utter futility. Life in the world is an opportunity not to combat its evils and change it but to cross over to a realm of eternal joy and beatitude. Therefore, the most meaningful and sagacious action is to work for one's own salvation rather than to work for others. Ramakrishna, a realised soul and mystic of the highest order, used to remonstrate with his disciples in these words: When God appears before you, would you beseech for a hospital, a school, a house, a road or for your own redemption? For a Hindu, even social welfare is as much a world binding activity as any other karma. The *Ishopnishad* and the Gita assert that disinterested action does not contaminate the doer but this state of mind is not attainable to ordinary mortals. Only a few amongst thousands can engage themselves even in social welfare actions without being mindful of results. Worldly men cannot perform any action without ostensible or ulterior motives, without expectations of favourable results. Vivekanand was perhaps the first to envisage the adverse implications for society of this doctrine of liberation. He fashioned an action-oriented *Practical Vedant* out of the abstract philosophical Vedant and emphatically proclaimed that there could be no *Moksha* or God realisation without service to mankind. This revolutionary

interpretation and transformation of Vedanta had tremendous impact on the ethos of social service in India. Later on Gandhi also made his whole philosophy of social action revolve around the service of the last man in the last row. He said that if God were to appear before the hungry, he must only in the form of bread.

9. The etiological explanation of suffering in the present life, according to the Hindu mind, lies in the bad actions performed in the past life. The law of karma functions inexorably and human intervention to influence it is considered neither justified nor effective. Relief from suffering is conceivable only when consequences of evil deeds have exhausted themselves. It seldom occurred to the Hindu mind that suffering is caused not only due to individual irresponsibility but also due largely to the malfunctioning of the institutional structures. Therefore, individuals passively suffer but no attempts are made to restructure the social apparatus. It is thus continuity and not change that has found favour with the Hindu ethos. Hindu psyche believes in the decline of the epochs rather than in social progress. The ideal society existed in *Satya Yuga*, the age of Truth. It was the duty of the king and his subjects to protect and preserve the model of this society. The cherished goal of a typical Hindu is to inaugurate a society which adumbrates an ideal past. The present Indian constitution is welcome to a Hindu only if it is interpreted as an instrument to reincarnate his lost golden past rather than a vehicle to usher in a new social order. The Hindu mind has tended to be more introvert than extravert. It has sought and found the real within and the unreal without. If the external world is essentially unsubstantial, all its ills and evils too must be illusory. The self of man is above and beyond the reach of suffering. The Hindu, therefore, takes suffering more philosophically than seriously. He endeavours to escape suffering rather confront it and conquer it. Social service demand love, compassion and tenderness inside as much as rationality, activism and change outside. But Hindu ethos, alas! is intrinsically deficient in these attributes.

In contrast, the cognitive structure of Christianity is radically dissimilar to that of the dominant philosophy of Hinduism; i.e. it is anthropocentric. According to Christianity, God created nature external to Himself and then man in his own image outside of nature. Thus there is an existential alienation between God, nature and man, each existing outside the other. Nature was created for the utilitarian purposes of man. Man was enjoined to unravel the *archana* of nature, seek the glory of God therein and harness its forces

and resources for his need fulfilment. Man, therefore, had divine sanction in Christianity, to unlock the mysteries of nature, to discover its laws and employ them in its conquest. The seeds of science and technology thus are embedded in Christianity itself. The Christian man, therefore, feels highly motivated to act up on nature, to treat it as a mere need object and transfigure it in the light of his requirements. Christendom, therefore, never experienced any compunctions in exploiting nature, disfiguring it and even destroying it in the process. The secret of western affluence basically lies in this attitude towards nature: "And God said — let us make man in our image after our likeness and let them have dominion over the fish of the sea, and over the fowl of the air and over the cattle and over all the earth and over every creeping thing that creepeth on the earth" (Genesis 1:26)

10. The cardinal principle of Christianity is fatherhood of God and brotherhood of man. Christ represented the human manifestation of God. Christ was the son of God, so are his followers. Hence all men are brothers who take refuge under him. Man is not a product of nature, hence he has no affinity with it and all that inhabit the realm of nature — the plant life and animal life. Man and other living beings are discontinuous and dichotomous existences. Plants and animals are a mere means for man and no ends in themselves. Christian compassion excludes natural beings and is confined to only mankind. It is, therefore, very much condensed and concentrated in regard to man. In other words, it is only social, specifically human, and not cosmic in its sweep and savour. It is primarily for this reason that the spirit of social service is so universal and powerful in Christianity.

Another influencing factor is the birth of Christ himself in a low status family in contradistinction to Hindu incarnations. Christ from the very beginning was pro-poor, a liberator of the depressed and downtrodden. He would move and preach among the poor, the afflicted and the marginalised. He proclaimed to have descended on the earth to redeem mankind of its sins and sorrow. He would cure the crippled, embrace the leper, give sight to the blind and sympathise with the outcast. He was the saviour of all that needed service and succour.

The story goes that one day a disciple invited the Lord (Christ) to his house. At the day's end he came to the Lord and ruefully expressed that the Lord did not oblige him. There upon the Lord said that He visited his house thrice : once as a beggar, second time as a leper and the third time as a stranger but he did not recognise Him. Therefore, when a Christian comes across a

beggar, a downcast, he feels elated, for to serve these people is to serve the Lord himself. Service of the helpless and miserable, thus, has the highest spiritual sanction of christianity behind it. Christianity without social service is an empty vessel.

In conclusion, one can only hope that Hinduism too one day would become the source of ceaseless inspiration for social service and the wide chasm between its immortal spiritual message and the colossal social apathy would disappear for good. The dawn of a new social order based on spiritual values of love, equality, freedom and justice would break dispelling the gloom encircling us. No religion, however deep its philosophical foundations, can carve out a respectable niche for itself unless it penetrates all the nooks and crannies of society and suffuses it with its nourishing spiritual essence. Let us join Vivekanand in pronouncing loudly that we do not believe in a **God** or **Religion** which cannot wipe out the tears of a widow or bring a piece of bread to the orphan's mouth. Social service represents the essence of man. It is the foundation of a welfare society. A welfare state cannot undermine its *raison detre*. On the contrary, the welfare state without the support of voluntary social service will crumble under its own weight.



## *Technical Science in Jaina Canons*

✍ N.L. Jain

The Numerically minor Jaina System of India under striver-tradition has over-contributed to enrich science, technology and philosophy besides spiritual equanimity. Its early texts composed between 400 BC to 500 AD mention about six-fold learnings involving (1) agriculture and (2) technology of the days besides (3) warfare and weaponry (4) ink-users (5) physical and abstract sciences and (6) supernatural learnings.<sup>1</sup> In later literature, they mention about 220 subjects of studies which have grown from time to time to eke out living and practise religiosity<sup>2</sup>. This author has classified them under twelve current faculties and found nearly 17% of them from technical subjects like (1) civil engineering & temple architecture, (2) aircraft engineering, (3) Ayurveda or medical sciences, (4) home science and dairy products, (5) metallurgy and (6) Iconography and the like.

### **Civil Engineering**

The Civil Engineering deals with town-planning. Many cities are mentioned in texts with details according to their overall shape (squared or otherwise). The length and breadth of the cities should vary between 1:0.5-1.03. The city is divided into sub-areas which contain quadrangular, circular or squared palaces, buildings, houses and temples with provisions of wells, lakes, lotus-pools, rivers,

forests, parks, entry gates, arched gates, trenches, agricultural lands, meeting halls, dancing halls, delivery halls or hospitals, observation galleries, sports centers, boundary walls etc.

In general, the buildings should have a ratio of  $l : b : h :: 1 : .5 : 2$ . Their doors should have this ratio as  $1 : 1 : 24$ . The dancing halls should have a height of 12 times the heights of men with a stage-size of 32 dancers' show. The meeting halls should have  $l:b:h$  ratio of  $1.5 : 1 : 0.3$ , i.e. they should have a larger length than width or  $1 : 1 : 0.25$ . Their doors should have  $1 : 1 : 2$  l-b-h ratio. The sports centres are halls with  $1 : 1 : 2$  ratio suggesting a predominance of indoor games<sup>3</sup>. The town entry gates or arched gates should also have the same ratio. Their number varies with the size of the town. The water reservoirs should be in the ratio of  $1 : 2 : 0.2$  in length, width and depth<sup>3</sup>. It has been stated that a city should have a mountain on one side and river on the other side for security reasons in those days.

The royal palaces or richmen's buildings have been detailed well contrasted to common houses. The palaces should have (i) balconies, (ii) Servants quarters, (iii) dressing rooms, (iv) prayer halls, (v) small/large temples, (vi) amorous sports halls, (vii) delivery rooms, (viii) récreation rooms, (ix) sports rooms and (x) Park & plantation areas. In fact, the palaces are miniature cities within towns. The dimensional ratios and details are similar to the towns except that they are smaller in size. The individual buildings have a ratio of  $2 : 1 : 3$  ( $1:0.5 : 1.5/0.75$ ) in terms of length, width and height depending on the shape and size of the buildings<sup>4</sup>. The doors of the houses have a ratio of  $1 : 1 : 1.5-24$ . The colours of the houses are attractive but variable. Recently, the Jain architect texts are found to mention 16324 types of houses with  $60' \times 70'$ ,  $54' \times 40'$ ,  $36' \times 42'$ ,  $30' \times 36'$ ,  $24' \times 30'$  sizes for peoples of as different cerlco 14'.

### **Castes Architecture :**

The shapes and sizes of Jain temples (whether in towns or in palaces) differ in dimensional details. Some simple formulae (i-iv) relating to their length, width and height have been given in Jambudvipa Prajnaptiz as below :-

(i)  $1/2=b$  (ii)  $2h-50=1$  (iii)  $(1+b)/2=h$ , (iv)  $(1+b) h = \text{foundation}$

In general, the temples are said to have  $1 : b : h :: 1 : 0.5 : 0.75$ . The description of temples suggests that they have many parts inside and outside so as to have a natural and picturesque surroundings The temple actually consists of (i) three doors ( $1 : 1 : 2$ ) (ii) Sanctum Sanctorum ( $1 : 1/4 : 1/2$ ) (iii) Altar ( $1 : 1/8$ ) (iv) Steps ( $1:1/2 : 0.4$ ) (v) Seating or worship hall ( $1 : 1/2 : 1/6$ )



(vi) Observation gallery (1 : 1 : 1/6) attached with the (vii) Meeting hall (1 : 1 : 1/4). It should have a mound ( 1 : 1.5) with odorous trees, a park, water-reservoir, arched gate and flags all around. The colours of the temples are also attractive but variable. It is clear that the dimensions of the temples are (somewhat) different in their ratios of 1 : b : h in compression to the general buildings.

The texts do not contain the indication of building materials except the final colour of palaces, buildings and temples.

### Iconography :

The Jainas have been mostly idol-worshipper. Hence idol-making of their worshipable ford-builder have been a developed technology since the pre-Christian and post-Christian days. There have been many noted centres for the Jaina iconography in India since the hoary past and it has developed as a science. There are many books dealing with this technology<sup>5</sup>. Two types of idols are made -(i) in standing posture and (ii) in sitting posture. The size of sitting posture is nearly half of the standing posture. Though the early details are not available, but they are available from 10-11th century. Many eastern and western scholars have worked on it. The idols are made of stone, quartz, sandalwood, marble, gem, brass, gold and other materials. Their h/ b varies between 1.2-4.0. The measurements of different parts of idols are based on *Angula* (app.1cm.) units. A normal idol has 108-120 *Angula* size in standing posture while it will be 54-60 *Angula* size in sitting posture. Their measurements are tabulated below :

**Table-1 : Measurements of idol parts**

S. No.	Parts	Standing Postures	Siting postures
1.	Mouth (Head to Mouth)	12 A	13A
2.	Neck	4 A	3A
3.	Neck to heart	12A	12A
4.	Heart to navel	12 A	12A
5.	Navel to genital organs	12A	12A
6.	Genital organs to knee	24A	4A
7.	Knee	4A	-
8.	Knee to ankle	24A	-
9.	Ankle	4A	-
	(Ankle to base of the feet)		
		108 A . -	56A

These are not only the gross parts whose measurements are given. The finer measurement details of each and every part like head, forehead, ears, eyes, nose, thigh etc. are also given for which the reader is advised to see the references given above. In later periods, the main images were made with their associated guardian deities etc. For larger images, these measurements should be taken as ratios between different parts.

### **Aeronautics :**

Even the early Jain texts describe about the planes flying in air. They have circular, triangular and quadrangular shapes. they may also have squared, Svastika, conch, lotus, swan and eagle shapes<sup>6</sup>. They may have different colours. They can be used for travel and for temporary residence also. There may be some planes moving in water also. Their sizes are variable but the general length to breadth ratio is approximately 4 :1<sup>3</sup>. The airport should have a size 11 times the length of the planes. Bharadwaja has referred two Sanskrit texts 'Agastya Samhita' and 'Yantra-Sarvasva' containing a section on aeronautics. This section has 8 chapters, 100 sub-chapters and 500 aphorisms or verses. The details of its contents can be found in the introduction of Detailed History of Jaina Literature, Vol. 5 (PVRI, Kashi, 1969, Hindi) which have not been studied properly. The technical Sanskrit scholars should come forward in this matter.

### **Other Technical Sciences**

There is quite a number of technologies mentioned in Jain canons. Upasakadasa gives details of making ceramic wares through the potter's wheel after kneading the soils, mixing the knead with cowdung and ashes and baking them in open kilns<sup>8</sup>. Kundakunda (1st century A.D.) mentions five types of fabrics made from silk-fibres, cotton fibres, woollen fibers (of camel, goat and sheep etc.), tree barks and leather (of Lion, Leopard, Elephant and Deer etc.) The mordanting of fabrics by natural colours was also a common technology<sup>9</sup>. Ink was also produced from naturally coloured products. Kundakunda also mentions metallurgy of gold and some other metals<sup>10</sup>. The technology of fireworks, oil extraction and lac production was also known as they are included in 15 professions by Asadhara of 13th Century<sup>11</sup>.

The seventy two arts for women mention a number of arts to be learnt by them in the area of home science involving 26 arts. They include (i) cosmetics<sup>12</sup> (from natural products like turmeric, myrtle, etc.), natural and perfumed hair-oils, hair-tonics, shampoos, (Triphala, Shekakai, Ritha etc.), hair-dyes etc. (ii) soft and medicated drinks (iii) Dairy products and fermentation technology (from 23 sources) butter and rejuvenating preparations like Chyavanaprasha. The details of many of them are found in literature.

The indigenous medical science was quite developed contemporarily. There was a well established medical preparation technology for powdered, decocted mixtures and solution medicines<sup>13</sup>. The multiply-boiled extracts or fermented mild-alcoholic extracts (like Asavas, Aristas etc.) of Ayurvedic medicines showed a high technical know-how.

One, thus finds a large number of technical sciences described in Jain canons. However, it must be kept in mind that the different skills were based on caste and family and they kept it a trade secret. Hence the normal details as expected today are not found in the canons. Still one has sufficient stray qualitative and in some cases (i.e. medical preparations), quantitative details which lead to a guess of their empirical nature. Secondly, Jain canons represent the age of natural products and hence, most of the skills were based on their utilization for serving the cause of humanity. These should be deeply studied with a historical perspective. The deficiencies there have led to the current age of better technology.

1. Thanks are due to society chimique Prayon Rupel liege, Belgium for partial financial assistance for this paper and its presentation at xx Intl congress of history of science held at liege 20-26th July, 1997.
2. The canonical units have been reduced in terms of ratio.

#### Referenes :

1. Varni, Jinendra; Jainendra Sidhanta Kosa-4, BJ, Delhi, 1998 P.420
2. Jain, N.L., Scientific Contents in Prakita Canons, PVRI, Varansi, 1996 P.87.
3. Acarya, Padmanandi; Jambudvipa Prajnapti, JSS, Sholapur, 1958 P.5, 122, 171, 66, 68, 88, 223, 90.
4. Acarya, Yativrshabha; Triloka Prajnapti-1, ibid, 1953 P. 147, 239, 146, 357, 397, 413.
5. Jain, Balchandra; Pratima Vijnana, MM General Stores, Jabalpur, 1974 P.21-22.
6. (a) Svami, Sudharma; Sthananga, JVB, Ladnun, 1976 P. 227.  
(b) See ref. 3p.97.  
(c) See ref. 4 P. 790.
7. Bharadvaja, S.K.; In Jain Sahitya Ka Vrhat Itihasa-5, PVRI. Varanasi, 1969 (Intr.).
8. Svami, Sudharma; Upasakadasa, APS, Beawar, 1980 P.137
9. Varni, Jinendra; Jainendra Siddhant Kosa-3, BJ, Delhi, 1993 P.531
10. Jain, N.L.; In 'Jain Vidya Evam Prakrita.' S.S. University, Varanasai, 1987 P. 198-200.
11. See ref. 1 P. 421
12. See ref.2 P. 113.
13. Ibid P. 527.
14. Vishuddhimatigi, Vathtuvijja, Jain Mahasabha, Lucknow, 1995

## सूचना

### जैन विश्व भारती संस्थान में शोध परम्परा के कीर्तिमान

जैन विश्व भारती, संस्थान मुख्यतः जैन विद्या का अनुसंधान केन्द्र है। यहां जैन विद्या एवं तुलनात्मक धर्म-दर्शन, प्राकृत एवं जैनागम, अहिंसा, अणुव्रत और शांति शोध, जीवन विज्ञान प्रेक्षाध्यान एवं योग और समाज कार्य जैसे रचनात्मक शैक्षणिक विभाग शोध की दिशा में गतिशील हैं।

संस्थान जहां बिना सम्प्रदाय, जाति, पन्थ, धर्म और वर्ग का भेद किए सबको समान प्रशिक्षण देने की व्यवस्था करता है वहां शोधार्थी को विशेष छात्रवृत्ति देकर उसे ज्ञानार्जन की दिशा में प्रोत्साहित भी करता है।

संस्थान की स्थापना के बाद अनेक प्रतिभासम्पन्न छात्र छात्राओं को स्नातक, स्नातकोत्तर एवं पी.एच.डी की उपाधियों से अलंकृत कर संस्थान गौरवान्वित हुआ है। 'तुलसी प्रज्ञा' में संस्थान से अब तक प्राप्त उपाधियों की सूचना शोधकर्त्ताओं की जिज्ञासा पूर्ति के लिए दी जा रही है। हम आगामी अंकों में अन्य संस्थाओं के भी शोधक्षेत्र में किए गए जैन धर्म-दर्शन से सम्बन्धित कार्यों की सूचनाएं संप्रेषित करना चाहेंगे। इस सन्दर्भ में हम सभी को आमन्त्रित करते हैं।

संदर्भित सत्रों में निम्नलिखित छात्र/छात्राओं को पी.एच.डी. एवं डी.लिट् उपाधि के लिए योग्य घोषित किया गया :-

	विषय	शोध विषय
<b>1996 डी.लिट्/पी.एच.डी.</b>		
1. डा. प्रवीण सी. कामदार डी. लिट्	अहिंसा एवं शांति शोध	Business ethics & Social Responsibility : Perspectives
2. सुश्री सुधा जैन	जीवन विज्ञान एवं प्रेक्षाध्यान	जैन योग और बौद्ध योग का तुलनात्मक अध्ययन
3. समणी स्थितप्रज्ञा	जैन विद्या एवं धर्म दर्शन	सम्बोधि: एक समीक्षात्मक अध्ययन
4. श्री प्रद्युम्नशाह सिंह	जैन विद्या एवं धर्म दर्शन	जैन एवं बौद्ध न्याय का तुलनात्मक अध्ययन

नाम	विषय	शोध विषय
<b>1997 पी.एच.डी.</b>		
5. श्री अनिलधर	अहिंसा एवं शांति शोध	गांधी परवर्ती युग में अहिंसा प्रयोग : एक समीक्षात्मक अध्ययन
6. सुश्री निर्मला चौरड़िया	प्राकृत भाषा एवं साहित्य	स्थानांग सूत्र : एक सांस्कृतिक अध्ययन
7. श्री एस. राजेशकुमार	अहिंसा एवं शांति शोध	Non-Alignment : A Policy towards world peace with reference to Anekant
8. श्री ओमप्रकाश टाक	अहिंसा एवं शांति शोध	गांधी दर्शन में युवा शक्ति : एक समीक्षात्मक विश्लेषण

**1998 पी.एच.डी.**

9. समणी कुसुम प्रज्ञा	प्राकृत भाषा एवं साहित्य	सामयिक निर्युक्ति:पाठ सम्पादन एवं परिशीलन
10. समणी निर्वाण प्रज्ञा	अहिंसा एवं शांति शोध	अहिंसा का शिक्षण-प्रशिक्षण : एक समीक्षात्मक अध्ययन
11. साध्वी श्रुतयशा	जैन विद्या एवं धर्म दर्शन	नन्दी सूत्र का ज्ञान - मीमांसात्मक विश्लेषण
12. साध्वी मुदितयशा	जैन विद्या एवं धर्म दर्शन	सन्मति तर्क प्रकरण : एक समीक्षात्मक प्रकरण
13. समणी चैतन्यप्रज्ञा	अहिंसा एवं शांति शोध	Science and Spirituality in the Bhagwati Sutra

**1999 पी.एच.डी.**

14. चिन्ता हरण बेताल	जीवन विज्ञान एवं प्रेक्षाध्यान	Effect of Preksha Meditation or Drug Abuser's Personality
15. आलोक आनन्द	अहिंसा अणुव्रत एवं शान्ति शोध	पारिवारिक शान्ति में अनेकान्त की भूमिका

नोट : वर्तमान में संस्थान के सभी विभागों में अनेक शोधार्थी शोध में कार्यरत हैं ।



*With  
Best  
Compliments  
From :*

**Shri Gyanchandji Anchalia**

120, North Car Street  
**P.O. SHRIKALI-609 110**